महाभारत की श्रेष्ठ नारियाँ

डॉ. वल्लभदास मेहता

महाभारत की श्रेष्ठ नारियाँ

डॉ. वल्लभदास मेहता

देवांशु प्रकाशन

Delhi Devashu Parkashan

सम्पूर्ण मातृशक्ति
को
सादर समर्पित!
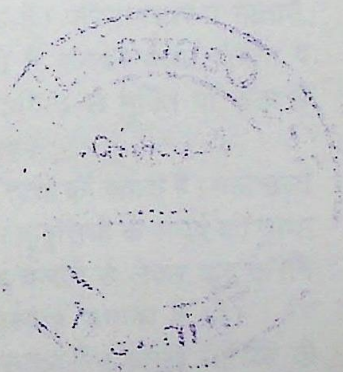
लेखकीय निवेदन

महाभारतकाल अद्‌भुत विरोधाभासी समय था जिसमें नारी का सम्मान भी किया जाता था और भरी सभा में निर्लज्जतापूर्वक उसको निर्वस्त्र करने का प्रयास कर अपमानित भी किया जाता था, जिसके कारण आज भी, कई युग बीत जाने के बाद, भारतीय संस्कृति को लज्जा से अपना मुँह ढक लेना पड़ता है।

नारी जीवन अपने आपमें एक कथा होती है। उसे माँ के रूप में पूजा जाता है। पत्नी के रूप में वह श्रेष्ठ सहचरी और परिचारिका होती है किन्तु उसका वैधव्य एक संत्रास की मार्मिक कहानी होता है।

युद्ध होते रहते हैं। वे संगठित हिंसा हैं। परिणामस्वरूप माताएँ, पत्नियाँ, बहनें व पुत्रियाँ विधवा होती रही हैं, उनकी व्यथा, वेदना वे ही जानती हैं। मनुष्य कर्मफल कहकर दायित्व से मुक्ति पा लेता है किन्तु युद्ध की विभीषिका को नहीं रोकता।

वैसे हमारी पौराणिक कथाएँ वैचारिक तत्वों की रूपक हैं। महाभारत सुविचारों और कुविचारों या सद्‌वृत्तियों और कृवृत्तियों के संघर्ष की गाथा है जिसमें नारी-पात्रों की अहम् भूमिका वंश चलाने से लेकर युद्ध कराने की रही है, फिर आँसुओं से उनका चिरस्थाई सम्बन्ध है ही।

नारियों की व्यथा-कथा को महाभारतकालीन प्रमुख नारियों के जीवनवृत्त के माध्यम से इस कहानी संग्रह में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पाठकों के दिल-दिमाग को नारी व्यथा यदि झकझोर दे तो लेखनी अपने को धन्य मानेगी।

प्रकाशन के लिए श्री अशोक शर्मा का आभारी हूँ और आभारी हूँ श्री प्रभुदयालजी मिश्र का जिन्होंने मूल्यवान सुझाव देने की कृपा की। पत्नी श्रीमती सुमित्रा मेहता के सुझाव भी समय-समय पर मिलते रहे, यह सहज स्नेह का प्रतीक है। परिवार के सदस्य तथा मित्रगणों के सहयोग के लिए धन्यवाद के अलावा कुछ शेष नहीं।

–वल्लभदास मेहता

अनुक्रम

मेनका

कितने ही युग बीत गये। वह नाच नाचते थक गई थी। एक परिवर्तन की उसने कल्पना की कि यदि वह भी गृहिणी बन जाय तो उसका दीर्घकालीन जीना सार्थक हो सकता है। एक दिन नृत्य का कार्यक्रम पूरा हो चुका था, अनमने भाव लिए एक कोने में दुबककर बैठ गई। देवताओं के राजा इन्द्र ने सभाकक्ष में प्रवेश किया और आते ही बोले, ''उर्वशी! मेनका कहाँ है?''

उर्वशी ने मुस्कुराते हुए कहा, ''देवराज, वह उस कोने में विश्राम कर रही है।''

देवराज मेनका के पास गये और कहा, ''क्यों मेनका! क्या बात है?''

''कुछ नहीं'' मेनका का उदासी भरा उत्तर था!

देवराज इन्द्र ने कहा, ''स्वर्ग में उदासी का क्या काम? यहाँ तो खाओ, पीओ और मौज करो।''

मेनका ने बस इतना ही कहा, ''देवराज! खाना, पीना और मौज करना ही सब-कुछ नहीं होता है... (और बड़बड़ाती हुई उठी) यदि होता तो फिर देवगण अवतार ही क्यों लेते?''

मेनका के कथन में गूढ़ सत्य छुपा हुआ था, देवगण स्वर्गिक सुखभोग को छोड़ समय-समय मनुष्य बन आते हैं, अपनी मनोकामनाएँ पूरी करते हैं। देवलोक में सद्कामनाओं का भी स्थान नहीं होता है, सामान्य कामनाओं की बात ही क्या? देवराज इन्द्र जिनका इन्द्रिय संयम इतना था कि उन्हें इन्द्र की उपाधि मिली हुई थी, यह इन्द्र पद कठिनतम दीर्घकालीन अखण्ड तपस्या के बाद मिला करता था। इस पद पर क्या, किसी भी छोटे से छोटे पद पर दो मनःस्थिति निर्मित हो जातीं हैं; एक है पद-मद और दूसरा है पदमोह। फिर बड़े पद का क्या कहना! देवराज

दोनों से ग्रसित थे। अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते थे और पद छिन न जाय इसका आन्तरिक भय सताया करता था।

एक दिन उन्होंने देखा कि मनुष्यलोक में एक ऋषि अखण्ड तपस्या में लीन हैं, वे थे ऋषि विश्वामित्र। वस्तुतः उनकी तपस्या तो राजऋषि से ब्रह्मऋषि बनने की थी। ब्रह्मऋषि आत्मकाम, भीतर-बाहर से परम शान्त, काम, क्रोध व लोभ संयमी हुआ करते थे। विश्वामित्र के समकालीन ब्रह्मऋषि वशिष्ठ थे। उनका अनुकरण करने की विश्वामित्र ने ठान ली थी, जो तपस्या से ही संभव था। तपस्या से विश्वामित्र का तेज बढ़ता जा रहा था, उस तेज से तीनों लोक प्रकाशित होने लगे थे। देवराज को भय ने सताया कि कहीं इन्द्र-पद न छिन जाय।

इधर मेनका उद्विग्न थी ही, देवराज ने उसे मनुष्यलोक में जाने का आदेश दिया, "मेनका जाओ। देखो कितना तेजोमय मनुष्य तुम्हारा आह्वान कर रहा है। उसका मन जीतो! मेनका से उसकी मन की बन जाओ।"

कामना का बीज एक बार अंकुरित हो जाय फिर वह कितना ही सात्विक क्यों न हो, विशाल वटवृक्ष बन अपनी जड़ें फैलाता जाता है।

मेनका आई और देखा, एक अति बलिष्ठ सुन्दर मानव नेत्र बन्द किये निरन्तर अजपा जप करता जा रहा है। वह विमोहित हुए बिना न रह सकी। वातावरण अत्यन्त शान्त व एकान्त था। गंगा की एक लहर आ रही थी और दूसरी जा रही थी, मन्द-मन्द समीर चल रहा था।

मदमाती-इठलाती मेनका ने उस श्रेष्ठ मानव को जगाने का प्रयास किया–अपनी कोकिल वाणी में गाना आरंभ किया। विश्वामित्र अविचल रहे। मेनका ने रति रमणीय नृत्य आरंभ कर दिया, हावभाव से अपनी बात कहने में वह चतुर थी ही।

तपोमय वातावरण विषयासक्त होने लगा, आसपास स्थित ऋषि-मुनियों के आश्रमों के उद्यानों में अचानक कलियाँ खिलने लगीं, वृक्षों में भी पुष्पगुच्छ लहराने लगे, वायु में मदमाती सुगन्ध फैलने लगी, ब्रह्मचारियों के मन भी विचलित होने लगे, सब मन ही मन उत्तेजित थे। इस मादक वातावरण से यदि कोई बचे थे तो वे थे कण्व ऋषि, जिनकी अटूट लौ

भगवान् से लगी हुई थी। मेनका के मन में भय उत्पन्न हुआ, वह सोचने लगी–कहीं कण्व मुनि ने शाप दे दिया तो वह घर की रहेगी न घाट की। स्वर्ग तो छोड़ आई है। मानवलोक अतिप्रिय होने के बाद भी दुखमय है, माना कि दुखी लोक के बाद सुखी लोक का सुखानंद कुछ और ही होता है।

''...सुख छोड़ दुख में रहना किसे पसन्द होता है!'' मेनका को सुख का तो मोह था किन्तु वह दुख की पीड़ा का भी अनुभव करना चाहती थी। उसकी यही चाहत उसे स्वर्ग से मानवीय संसार में खींच लाई थी, देवराज का संकेत और आज्ञा भी थी। विश्वामित्र राजसी पुरुष भी थे, राजपाट त्यागकर ब्रह्मऋषि बनने के लिए तप कर रहे थे। तपस्या का फल उन्हें प्राप्त होने में कुछ ही समय शेष था। वह फल ही था जिसके कारण दैवी शक्ति गायत्री उनके मुख से प्रस्फुटित होने लगी थी। कौन ऐसी भाग्यवती न होगी जो उन पर आकर्षित न हो! तप ने उनके तेज को तीनों लोकों में फैला दिया था, सिद्ध गायत्री मंत्र के वे आदि ऋषि की श्रेणी में आ गये थे। कहीं कोई कमी थी तो ब्रह्मऋषि पद पाने की कामना! इस कामना के वशीभूत तपःपूत पर मेनका ने अपनी कामपरक दृष्टि जमाई, ऋषि खिंचते चले गये। वह उन्हें दूर, बहुत दूर, गिरि कन्दरा में ले गई।

बस नारी-पुरुष का मेल हो गया, अब वे न ऋषि थे और न वह स्वर्ग की अप्सरा थी।

एक साधारण नारी के कष्ट, पीड़ा, वेदना आदि उपस्थित हो गये थे, जिसका समाधान खोजते-खोजते ऋषि, मुनि, देव, दानव और मानव ने युगों-युग बिता दिये थे, पर वह नहीं मिल पाया। किन्तु मातृत्व के भागवतीय पद पर नारी ने बैठकर सब-कुछ भुला दिया था। मेनका भी भूल चुकी थी। अब वह एक अद्वितीय सुन्दर कन्या की माँ बन चुकी थी। ऋषि दायित्व नहीं सँभाल सके और पुनः तपस्या करने कहीं दूर हिमालय की कन्दरा में चले गये और अपनी महत्वाकांक्षा ब्रह्मऋषि पद ने उन्हें पितृत्व के दायित्व से दूर कर दिया। मेनका पुत्री के साथ वन में क्या करे? भविष्य के दुख की कल्पना करके वह बार-बार रोई पर उसका रुदन ऋषि विश्वामित्र तक नहीं पहुँच सका।

कई प्रकार के विचार आते-जाते थे। अबोध कन्या का मुख देख-देख वह कुछ समझने का प्रयास करती। कण्व ऋषि के आश्रम में गई। ऋषि अखण्ड ब्रह्मचारी थे, उनके आश्रम में साधक और साधिकाएँ रहती थीं, सब अपने-अपने कार्य में रत रहते थे, मेनका ने भी कार्य की चाह की। कण्व मुनि को समझने में देर नहीं लगी, उन्हें विश्वामित्र की शक्ति और आसक्ति का ज्ञान था, वे उनका सम्मान करते थे। वे यह भी जानते थे कि देवराज का मेनका को प्रेरित कर भेजने में छल था, मेनका मानवलोक में स्थाई रह भी नहीं सकती।

एक दिन कण्व ऋषि ध्यान में बैठे हुए थे। भविष्य उनकी आँखों के सामने नाच गया कि 'जिस कन्या को उनके यहाँ शरण दी गई उसके भाग्य में तो महाराजमहिषी व महाराजमाता बनने का योग है, चाहे उसकी शकुओं ने रक्षा की हो। भाग्यविधाता बड़ा बलवान होता है।'

मेनका अपने स्वर्गिक आनंद को भूल नहीं पाई, उसे संसार का सुख एकदम अस्थाई लगा। बड़ा स्वार्थपरक विचार कौंधा कि वह एक अप्सरा है, भूलोक की कामुकता उसका सौन्दर्य शेष नहीं रहने देगी। उसका चिरयौवन केवल स्वर्ग में ही रह सकता है। पता नहीं कौन-सा रोग उसके सौंदर्य को नष्ट कर दे। एक अप्सरा का आकर्षण तो सोलह और चौबीस वसन्तों के बीच में ही रहता है, फिर वह स्वर्ग की भी नहीं रहेगी! उसका मन डोल गया, मातृत्व की उदात्त भावना भी तनु से तनुतर होकर क्षीण हो गई और उसने भूलोक छोड़ने का निश्चय कर लिया।

अप्सरा का किससे स्नेह, किससे प्रेम? उसका जीवन तो व्यावसायिक होता है जिसमें कोई अपना सगा नहीं और कोई मित्र नहीं। फिर उसे समाज कलंकिनी कहे या उसे हेय दृष्टि से देखे, उसे अपना सुख देखना ही परम लक्ष्य होता है। मेनका ने खूब सोचा कि वह शकुन को अपनी भाँति अप्सरा बनाये या आदर्श मानुषी रहने दे? उसके सामने कठिनाई थी कि 'वह उसे निस्संदेह स्वर्ग ले नहीं जा सकती, जब विश्वामित्र जैसे शक्तिशाली ऋषि भी त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग नहीं भेज पाये और नहुष जैसे प्रतापी राजा स्वर्ग में राज नहीं कर पाये तो शकुन के साथ उसके स्वर्ग में उसे कौन आने देगा।

उसके मन में ऊहापोह चलता रहा! पुत्रीमोह त्यागने का वह निश्चय

कर बैठी! शक़ुन का बार-बार चुम्बन लिया—दुलार किया, लोरी गाकर सुलाया और नीरव वन में आश्रम के निकट छोड़ मेनका ने स्वर्ग की राह पकड़ी।

सोचती जा रही थी, 'देवराज से क्या कहेगी, एक माँ को स्वर्ग की अन्य अप्सराएँ स्वीकार करेंगी, क्योंकि स्वर्ग में कोई सम्बन्ध नहीं होते, न माँ का—न बहन का! वहाँ बस छूट है तो केवल राजा को, वह अपनी इन्द्राणी रख सकता है। स्वर्ग फिर भी अजीब-सा मायाजाल है। जो हो, आखिर स्वर्ग तो उसका घर है।'

स्वर्ग में पहुँची मेनका की प्रथम भेंट इन्द्राणी से हुई। इन्द्राणी न कुछ बोलीं और न उलाहना दिया, बस मुस्कराकर हाथों से संकेत कर स्वागत किया। अन्य अप्सराओं ने स्वागत अवश्य किया, किन्तु उलाहना देने में नहीं चूकीं। एक बोली—''बड़ी गई थी भूलोक में रमण करने!''

''तो क्या देवराज की आज्ञा टालने की हिम्मत कर पाती! उन्हें अधिकार है कि वे भूलोक तो क्या पाताललोक में भी धकेल सकते थे...''

''लेकिन तूने बुरा किया जो अपनी जाया को अनाथ जैसा छोड़ दिया।''

उसाँस लेते हुए मेनका ने कहा—''अगर नहीं छोड़ती तो त्रिशंकु की भाँति वह न भू की रहती न स्वर्ग की—इससे तो भला है कि उसे कण्व ऋषि जैसे तपस्पी, अखण्ड ब्रह्मचारी, वेदविज्ञ और सुयोग्य गुरु का संरक्षण मिला—जिनके आश्रम में पठन-पाठन के लिए देव भी तरसते हैं, वे भूलोक में इस हेतु ही अवतार ग्रहण करते हैं।''

समय भागता गया। शकुन ने दसवें वर्ष में प्रवेश किया। ऋषि-पत्नियों की देखरेख में उसकी प्रतिभा चमकने लगी, कण्व स्वयं उसे विद्या अध्ययन कराते—अल्पवय में वह निष्णात होने लगी। यह देख-देख स्वर्ग में मेनका फूली नहीं समाती थी, लेकिन स्वर्ग में भी दुख सताता था कि वह भूलोक के सन्तान सुख से वंचित रह गई! उसे तो अभी बदलता इतिहास देखना था। नर्तकी इतिहास तो नहीं बनाती किन्तु देख अवश्य सकती है।

इतिहास स्वर्ग में नहीं बनता, उसकी निर्माण स्थली तो भूलोक ही

होता है। स्वर्ग में कुछ दस दिन ही बीते थे कि मेनका को मोहवशात पुत्री की याद आई। उसने स्वर्ग से भूलोक की यात्रा निमिष मात्र में कर डाली। वह देखकर आश्चर्यचकित थी कि उसकी पुत्री कण्व आश्रम की परिचर्या में लगी हुई है, उसने उल्टे पाँव वापिस स्वर्ग की राह पकड़ी। उसकी नियति तो उर्वशी, तिलोत्तमा आदि नर्तकियों के साथ जुड़ी थी। स्वर्गिक सुख की यही बड़ी कीमत चुकाना पड़ी है कि उसका अपना कुछ नहीं था, सब-कुछ अपनत्वविहीन, अर्थहीन था। मेनका ने भूलोक में खोजना चाहा, खोजने आई भी, किन्तु पूर्व निर्धारित इतिहास में अपना नाम जोड़ वह स्वर्ग निवासी हो गई। *जब तक स्वर्ग रहेगा वह रहेगी– सृष्टि क्रम में स्वर्ग का भी अन्त है, तब कहीं मेनका नये सिरे से कुछ पा सकेगी जिसकी अभिलाषा उसके मन में जागी थी।* इसी क्रम में वह पा जाती यदि अपनी जाया को नहीं त्यागती और उसी के साथ ऋषि आश्रम की सेवा कर मृत्यु के माध्यम से स्वर्ग में जाती तो उसका सुख कुछ और होता और यदि उसकी सेवा निष्काम बन पाती तो भागवतीय हो मोक्ष अधिकारिणी भी बन सकती थी, लेकिन वह स्वर्ग में रह अपने रूप-लावण्य को बनाये रख सुख की खोज में थी। सच पूछा जाय रूप-लावण्य की अल्पकालिक दिखावटी प्रशंसा अवश्य होती है जिसके पीछे ज्ञात और अज्ञात वासना छुपी रहती है।

मेनका इतिहास परिवर्तन की माध्यम बनी लेकिन उसका जीवन स्वर्ग की अन्य अप्सराओं की भाँति बस लुभाते रह मनोरंजन करते ही बीतता गया। पता नहीं वे सब कहाँ खो गईं, विधाता ही जाने!

गंगा

कुरुवंश के राजा प्रतीप के तीन पुत्र थे–देवापि, शान्तनु और वाह्लीक। देवापि बचपन से तपस्या करने चले गये। शान्तनु हस्तिनापुर के राजा हुए। शान्तनु की सुन्दरता और यौवनीय सौष्ठव का कोई सानी नहीं था। तत्कालीन अनेक राजकन्याओं के अनेक प्रस्ताव विवाह हेतु आए थे किन्तु, शान्तनु थे कि स्वीकार ही नहीं करते। एक दिन प्रातःकाल शान्तनु हिमालय के पावन सरिता तट पर विचरण कर रहे थे कि एक बाला पर उनकी दृष्टि पड़ी–बाला क्या! निर्मलता की साक्षात प्रतिमूर्ति; वयस्का पर राजा शान्तनु मोहित ही नहीं हुए बल्कि उन्होंने बिना हिचक उस बाला के सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रख दिया।

"बाले! मैं नहीं जानता कि तुम कौन हो, किसकी कन्या हो, अकेली इस निर्जन प्रदेश में क्यों घूम रही हो। जो हो! मैं तुमसे विवाह करना चाहता हूँ। मैं इस देश का राजा शान्तनु हूँ।"

"राजन! मैं प्रथम दृष्टि में ही समझ गई थी कि आप भद्र पुरुष कोई राजकीय पुरुष हैं। आपकी दृष्टि मोहिनी लगी। किन्तु राजन, एक कन्या अपने माता-पिता से आज्ञा लिए बिना विवाह के लिए कैसे हाँ या ना कर सकती है? आप मेरे पिता हिमालय और माता मयना से आज्ञा लें। एक बात और....मेरी भी कुछ शर्त होगी!"

शान्तनु ने पर्वतराज हिमालय के पास जाने में कुछ देरी नहीं की। हिमालय ने शान्तनु का स्वागत किया। दोनों में चर्चा हुई। हिमालय ने दृढ़ता के साथ कहा–"मेरी पुत्री गंगा निर्मल है किन्तु परम स्वतंत्र है, उसे सब कौमार्य अवस्था से ही मातृतुल्य मानते हैं; कई एक तो पतितपावनी कहकर पुकारते हैं! राजन! उसका भार उठा सकोगे?"

शान्तनु अपनी जिद पर अडिग थे।

बड़ी धूमधाम से विवाह सम्पन्न हुआ कि गंगा ने एक कड़ी शर्त

रख दी–"मैं जो करूँ उसमें आप टोकाटाकी नहीं करेंगे, आप रोकेंगे नहीं और यदि आपने ऐसा किया तो उसी क्षण मैं आपसे सम्बन्ध तोड़ वापस हिमालय चली जाऊँगी।"

शान्तनु ने कभी ऐसी शर्त के बारे में सोचा ही नहीं था, किन्तु उन्होंने शर्त स्वीकार कर ली। विवाह सम्पन्न हुआ।

गंगा महारानी का पद पा चुकी थी। समय भागता गया। बारह वर्ष की अल्प अवधि में गंगा ने सात पुत्रों को जन्म दिया। कहते हैं कि जन्मते ही वह अपने पुत्रों को अपने नामस्वरूपा सरिता में बहा देती थी। राजा शान्तनु सब जानते हुए भी बड़े दुखी भाव से यह दृश्य देखते रहते पर मोहजनित प्रेम के कारण कुछ न कहते। उन्हें भय था कि कहीं गंगा चली न जाय।

और....जब आठवाँ पुत्र हुआ तब राजा का पुत्रप्रेम जाग्रत हुआ। गंगा को टोकते हुए बोले–"अरी पिशाचिनी! तू अपने ही जनित पुत्रों की हन्ता क्यों बनती है?"

बस गंगा बिफर गई–"राजन! अपनी शर्त के अनुसार मैं चली, आठवें पुत्र को लिए हुए।"

राजा बोले–"बालक को छोड़ती जा!"

"ना! समय आने पर यह बालक तुम्हें सौंप दूँगी–इसके पालन-पोषण का दायित्व मेरा है।" गंगा ने जवाब दिया।

एक अजीब-सा वातावरण था। राजपरिवार के सारे लोग पति-पत्नी के विच्छेद की विचित्र शर्त के सामने हतप्रभ थे–राजा और निर्मल राजमाता का विवाद कोई छोटी बात नहीं थी।

पुत्र को लिए गंगा जाने लगी तो राजा शान्तनु ने शान्ति भंग की और गंभीर स्वर में कहा–"तेरा यह पुत्र कुरुवंश का राजकुमार है, हस्तिनापुर का भावी राजा है, इसे वन-वन भटकने के लिए ले जाने का क्या प्रयोजन!"

"राजन! विवाद न करो। यथासमय योग्य बनाकर मैं इसे तुम्हें सौंप दूँगी। भविष्य में कौन राजा बनेगा–नहीं बनेगा, यह भविष्य की सोच एक छल है।"

पूरे पर्वतीय क्षेत्र में बात फैल गई कि गंगा वापिस आ गई है और

साथ में एक बेटा भी लाई है। अकेली युवती नारी का जीवन काटना एक बड़ा संकट होता है। कई प्रकार की मनगढ़न्त बातें की जाती थीं। सुन-सुनकर गंगा मन ही मन खून का घूँट पीकर रह जाती। बाण छूट चुका था—वापिस तरकश में जा नहीं सकता।

उधर शान्तनु ने गंगा और गंगापुत्र को खोजने का बहुत प्रयास किया लेकिन हिमालय के बड़े फैले साम्राज्य में उन्हें खोजने में वे सफल नहीं हुए।

हिमालय की कन्दराओं में गंगापुत्र बड़े होने लगे। गंगा ने अपने पुत्र को अपने पितृघर में निवास कर रहे तपस्वियों से योग, शास्त्र, वेद, पुराण और राजर्षियों तथा परशुरामजी जैसे योद्धाओं से युद्धकला में प्रवीण बनाने का पूरा-पूरा उपक्रम किया।

और दस वर्ष बीत गये।

अब गंगा को लगा कि जिसकी धरोहर है उसे सौंप दी जाय और दैवी संकल्प में जीवन को आहूत कर दिया जाय; महारानी बन लोक-कल्याण करने की एक मर्यादा है। लोक-कल्याण का दायरा बहुत व्यापक होता है जिसमें पिता, पुत्र,. पति, भाई, बहन, माँ इत्यादि बन्धन होते हैं, दायरे को मोहजनित जाल के कारण सीमित कर देते हैं, सेवा प्रदूषित होती जाती है। दूसरा विचार आया कि क्या एक नारी के इस स्वतंत्र चिन्तन व्यवहार को समाज स्वीकार करेगा? समाज का क्या? स्वर्ग की कामना का यह क्रीत है, स्वर्गिक सुख उसे चाहिए। प्रलोभन मिलता रहे तो समाज न केवल स्वीकार करेगा बल्कि वह तो उसे अपनी आराध्या बनाकर पूजा भी करने लगेगा।—यह चिन्तन कर गंगा निश्चल हो अपनी निर्मलता के साथ हस्तिनापुर के तट पर आई जहाँ राजा शान्तनु नित्य सूर्य को अर्घ्य देने आते थे। गंगा के साथ दस वर्षीय पुत्र भी था।

राजा की दृष्टि दोनों पर पड़ी, सुखद आश्चर्य हुआ। गंगा बोली—

"राजन! अपने पुत्र को सँभालो, इसे ऋषि-मुनियों तथा परशुराम जैसे गुरुओं ने ज्ञान, विज्ञान व युद्धकला में प्रवीण बना दिया है। यह देवतुल्य बालक आपका पुत्र है, इसे सब देवव्रत के नाम से जानते हैं। अब मैं अपने पितृगृह हिमालय में रहती हुई सागर तक चलती रहकर लोक-कल्याण का कार्य करूँगी। आपके राजकुल की मर्यादा मुझे रास

नहीं आती है।''

शान्तनु बोले–''गंगे! मैं तुम्हें सेवा के पुनीत कार्य से नहीं रोकूँगा। मेरे प्रेम को, देवव्रत के सहज स्नेह को ठुकराओ मत!'' यह कहकर गंगा का हाथ पकड़ने लगे–गंगा ने झिटककर हाथ खींच लिया।

''राजन, मोह का कोई अन्त नहीं–जीवन का अन्त है। सिवाय परमेश्वर के कुछ भी शाश्वत नहीं। जिन चरणों से मेरा जन्म हुआ उनकी सेवा केवल व्यापक रूप से लोक-कल्याण से ही संभव है। यह मेरे ऊपर ऋण है। हस्तिनापुर में बँधकर यह संभव नहीं! सेवा करके ही ऋण चुका सकूँगी। अतः विदा चाहती हूँ।'' यह कहकर गंगा चली गई।

वर्ष दर वर्ष बीत गये। देवव्रत का जीवन गंगा के अनुरूप पवित्र बना रहा। उन्होंने केवल विवाह ही नहीं किया बल्कि शान्तनु के वंश की रक्षा करने में त्याग का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत कर 'भीष्म' कहलाए। (यह अपने आपमें त्याग की उच्चतम कथा है।)

जब कभी माँ की याद आती किशोर देवव्रत उस स्थान पर आते जहाँ गंगा ने उन्हें राजा शान्तनु को सौंपा था। बस सरिता रूप में दर्शन कर अपने आपको समझा लेते।

वर्षों बाद जब देवव्रत प्रौढ़ हो भीष्म हो चुके थे, पिता की स्मृति में तर्पण करने गंगा पर आए। गंगा ने उन्हें कहीं दूर से देखा–पुत्र देख सहमी पास आई और बोली–''देवव्रत, यहाँ कैसे?''

अपनी माँ को पहचानने में देरी नहीं लगी–''माँ, पिता श्री शान्तनु शान्त हो गये, उन्हीं का तर्पण करना है।''

गंगा को जैसे डंक मार गया हो। हतप्रभ-सी थम गई। उसने अपना सौभाग्य का वेश त्यागा और मोह छोड़ चुकी निर्मोही गंगा देवव्रत के सिर पर हाथ रखकर बोली–''देवव्रत! तूने पिता के भोग्य सुख के लिए बड़ा भारी त्याग किया। मेरा आशीर्वाद तेरे साथ है। मैं रुक नहीं सकती, जिस सेवाकार्य को स्वीकार किया है उसे अबाध गति से चलाना मेरा पावन कर्तव्य है, यह कर्तव्य ही मेरी तपस्या है, विष्णु सेवा है। जब तक वे (भगवान्) चाहेंगे करती रहूँगी।''

देवव्रत ने कहा, ''माँ, मैं रोककर बाधा क्यूँ बनूँ, किन्तु माँ! अब देखा नहीं जाता। जिस पतन की राह पर मेरा कथित वंश चल निकला

है वह अत्यन्त निन्दनीय है।"

गंगा बोली–"उत्थान व पतन समाज की अपनी गति है, ईश्वरीय सत्ता का खेल है, इसमें से बेदाग निकलने के लिए चारित्रिकता और धैर्य की आवश्यकता होती है। मुझे विश्वास है कि तू खरा उतरेगा। इस समय मेरे आराध्य कृष्ण रूप में हैं जिन्हें बहुत कम लोग जानते हैं।"

देवव्रत ने कहा–"मैं जानता हूँ माँ! किन्तु अभक्ष्य खाकर मैं तामसिक बनता जा रहा हूँ–मेरी मति भ्रम में पड़ जाती है। कोई उद्धार का मार्ग बताती जा!"

गंगा ने कहा–"बेटा, मार्ग है त्याग और साधना। त्याग तुझसे मोहवशात होगा नहीं और साधना से तू ज्ञानी अवश्य बन जायेगा लेकिन ज्ञान पर हमेशा मोहजनित भ्रम का आवरण पड़ा रहेगा। श्रीहरि का चिन्तन करता रह और प्रारब्ध के भोग काटकर मुक्त हो।" कहकर गंगा चली गई।

एक दिन सूर्य अस्ताचल की ओर गतिमान थे, गंगा त्रिवेणी संगम के किनारे बैठ आत्म-चिन्तन में लीन थी, सरिता में लहरें आती थीं और जाती थीं; वातावरण नीरव था। वह सोच रही थी कि उसने कौन से पापों को धोते-धोते कौन-सा जघन्य पाप कर डाला कि मानसी बनी। मानसी बनी वहाँ तक तो ठीक किन्तु वैधव्य को भी बाँधना पड़ा, कब तक ऐसा जीवन चलेगा? अनेक नामों में मेरा नाम सुरसरि भी रखा गया, अब सुरों से तो कोई सम्बन्ध रहा नहीं! मेरे पास नाना प्रकार के मानव और मानवी अपनी मनोकामनाएँ लेकर आते हैं, मैं कुछ देती-लेती नहीं, उनकी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं, वे समझते हैं मैं उनको प्रदान करती हूँ। मैं जानती हूँ मेरी मर्यादा क्या है? अपनी वेदना किससे कहूँ? कब तक जीवन घसीटना होगा? वापिस पितृघर भी जाना नहीं होगा? शिव दर्शन भी दुर्लभ हो गये; जब शिव दर्शन दुर्लभ हैं तो बहन पार्वती का तो प्रश्न ही नहीं। कलियुगी कृतियों ने मुझ पर कितना मल चढ़ा दिया है, मैं तो धोते-धोते थक गई!... श्रीहरि की माया श्रीहरि जानें।–और उठकर अनमनी-सी अज्ञात दिशा की ओर चल दी जहाँ बड़ा भारी मानव समुदाय का जमघट था, जहाँ कथित सन्त-संन्यासी अपने-अपने राग

आलाप रहे थे—एक स्वर नहीं था उनका। अनेक स्वरों में एक स्वर बोल उठा—स्नान कर लो ग्रहण समाप्त हो गया है। भीड़ में से राजसी भेष में एक अधेड़ योद्धा बाहर आया, साथ में उससे कम वय की अधेड़ नारी थी, दोनों गंगा को देख ठिठक गए। योद्धा बोल उठा—"माँ गंगे!" गंगा भी एक क्षण अपने परिचित स्वर को सुन रुक गई।

अधेड़ नारी की ओर देख बोली, "अच्छा ये ही सत्यवती है—राजरानी सत्यवती! बहन, मानसी होने का अभिशाप मेरे साथ-साथ तुम भी भोग रही हो। तुम्हारे कष्ट का अन्त तो निकट है, पर मेरा पता तो श्रीहरि ही जानें!"

सत्यवती अवाक् थी। किन्तु जानती थी कि वह सम्राट शान्तनु की पहली पत्नी गंगा है जो देवव्रत-सा पुत्र दे धन्य हो गई। गंगा को प्रणाम किया। कुछ आगे वार्तालाप होता कि गंगा बोली, "बहन रुक नहीं सकती, कल्याण कार्य का दायित्व लेकर चलते जाना है, चलते जाना है। रहा सुख-दुख—तो ये तो मन की स्थितियाँ हैं।"

सब अपनी-अपनी दिशा में जाने लगे तो देवव्रत ने पूछ ही लिया—"माँ! मेरा भविष्य तो बताती जाओ!"

"तेरा भविष्य तेरे पिता तय कर गये हैं और वह तेरे ही हाथ में है।"

"फिर भी, माँ अब ऊब-सा गया हूँ!"

"शिव आराधना कर, उसे करके तुझे शान्ति मिलेगी, तेरे कर्मों का पटाक्षेप करने शिव से वर प्राप्त कर अम्बा जन्म ले चुकी है।"

देवव्रत जो 'भीष्म' उपाधि से जाने जाते थे, शरशैया पर अति कष्ट सहते हुए सोए हुए थे, गला सूख रहा था, पानी पिलाने कौरव-पाण्डव दोनों तत्पर थे किन्तु उन्होंने अर्जुन से जल की कामना की। अर्जुन ने गाण्डीव उठा पृथ्वी पर तीर चलाया, 'गंगाजल' निकल पड़ा। उधर गंगा को एक झटका लगा, उसकी लोकतारण कार्य की व्यवस्था इतनी थी कि जब वह उस समुदाय के निकट पहुँची तब तक सब-कुछ समाप्त हो चुका था, जलांजलि दी जा चुकी थी।

गंगा फूट-फूटकर रो पड़ी, गंगा माँ की विकलता देख श्रीकृष्ण

सहित सारा लोक समुदाय विस्मित था कि पतितपावनी गंगा, जिसके दर्शन मात्र से मानव तर जाता है। किसी का साहस नहीं हो पा रहा था कि गंगा को ढाढ़स बँधा पाता। श्रीकृष्ण मात्र एक ऐसे थे जो बोले–

"गंगा माँ! संबोधन सुन चौंकना नहीं, इस मानवी रूप में तुम भीष्म पितामह की माता हो और वे हमारे पितामह थे। दीर्घ आयु का अभिशाप है माँ कोई पहले मृत्यु का आलिंगन करता है और कोई बाद में। सृष्टि का नियम है, उसमें परिवर्तन कोई नहीं कर सकता।"

"केशव, मुझे खेद तो इस बात का है कि मेरे पुत्र ने युद्ध के मैदान में महावीर परशुरामजी को कष्ट में डाल दिया था और वही शिखण्डी के हाथ मृत्यु को प्राप्त हुआ।"

श्रीकृष्ण ने कहा–"कल्याणी, महायुद्ध का मैं साक्षी हूँ, तुम्हारा पुत्र शिखण्डी के हाथों नहीं अर्जुन के हाथों मृत्यु को प्राप्त हुआ है। उन्हें उत्तम लोक मिला है। वे महा तेजस्वी वसु थे। शान्तनुनन्दन देवव्रत के लिए शोक मत करो।"

गंगा ने श्रीकृष्ण को अवाक् दृष्टि से देखा–श्रीकृष्ण ने अपनी चिरमोहिनी मुस्कुराहट दे कहा–"गंगे! गान्धारी के महाशाप का परिणाम मुझे भी देखना है जबकि प्रत्यक्ष रूप से मैं केवल साक्षी भर हूँ। नियति के नियम हैं, कारण बन जाते हैं, कर्त्ता भोगते हैं; इसलिए शोक करना छोड़ दो। जो स्वाभाविक है उसे ज्ञानपूर्वक त्यागना पड़ता है।"

केशव के चरणों को निहारती हुई गंगा चली गई अपनी अज्ञात सांस्कृतिक प्रसार की यात्रा पर!

शकुन्तला

"राजमाता! कुछ तपस्वी द्वार पर खड़े हैं।" परिचारिका ने कहा।

"अरे, उन्हें ससम्मान लाओ और उन्हें श्रेष्ठ कक्ष में आसन अर्पित करो! मैं पहुँचती हूँ!" तत्कालीन सबसे बड़े राष्ट्र भारतवर्ष की राजमाता होने का अहं उसे छू तक नहीं गया था। अपने उत्तरीय सँभालकर उसने उस कक्ष में, जहाँ का वैभव वर्णन करते नहीं बनता, प्रवेश किया–तपस्वी ऋषिकुमार उठ खड़े हुए–"अरे भैया, बैठो-बैठो! पहले तो यह बताओ मेरे पिता कैसे हैं, स्वस्थ और प्रसन्न तो हैं न!"

एक तपस्वी बोला, "बहन! उन महान योगी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी का क्या कहना! वे तुम्हें बहुत याद करते हैं, बस तुम्हें देखने के लिए ही भेजा है।"

बस इतना सुनते ही सम्राट भरत की माँ राजमाता विचारों में निमग्न हो जाती हैं–

महायोगी कण्व ऋषि का तमसा तट पर बना आश्रम था जिसमें मृग व मृगी व उनके छौना निःशंक घूमते, उन्हें सिंह का भय नहीं सताता, सिंहशावक भी यदा-कदा उनमें आ जाते। वहाँ पक्षियों के कलरव से आश्रम की शान्ति भंग नहीं होती। मन्द-मन्द पवन चलकर यज्ञ वेदियों से उठते धुएँ को ले सुगन्धित वातावरण बनाने में तल्लीन थी। ऋषिकुमार, मुनि व मुनि-पत्नियाँ अपने-अपने दैनिक पूजा, पाठ, यज्ञ आदि से निवृत्त हो, प्रसाद पा चुके थे और विश्राम के लिए जा चुके थे–तब ही एक बलिष्ठ सुन्दर युवक ने प्रवेश किया, वह अपने अश्व को आश्रम के बाहर छोड़ आया था।

"स्वागत है" कहकर अति सुन्दर ऋषिकन्या ने आसन दिया जिसे देख सुन्दरता भी लजा जाती थी ! जलपान कराया और बोली, "आपको प्रतीक्षा करनी होगी–महर्षि बाहर गये हैं, समय लगेगा।" युवक ठगा-सा

रह गया! उसने इतनी कमनीय सुन्दरता की मूर्ति कभी नहीं देखी थी। वह ऋषिकन्या अपने जीवन के सोलह-सत्रह वसन्त पार कर चुकी थी, वह स्वयं भी युवंक के प्रति आकर्षित हो गई थी। परस्पर परिचय हुआ–ऋषिकन्या ने कहा, "मैं महर्षि कण्व की पुत्री हूँ!"

युवक ने अपना परिचय दिया, बस इतना कहा, "महर्षि के दर्शन के लिए आया हूँ!"

उस काल में राजा-प्रजा में अधिक भेद नहीं था, राजा साधारण प्रजा पुरुष की भाँति घूमता था। वह सम्राट दुष्यन्त था। दुष्यन्त ने पूछा–"सुन्दरी! महर्षि तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, फिर तुम उनकी पुत्री कैसे हुईं?"

ऋषिकन्या बोली–"राजन! वस्तुतः मेरे पिता ऋषि विश्वामित्र हैं, यह मुझे ऋषि कण्व ने बताया। मैं स्वर्ग की अप्सरा मेनका की पुत्री हूँ! मुझे मेरी माँ ने जन्म देते ही त्याग दिया था, पता नहीं मेरी माँ की क्या लाचारी थी! पिता जो परिव्राजक थे, उनसे तो आशा नहीं थी। वे भी जन्म के पूर्व से ही छोड़ पुनः तप करने हिमालय चले गये। कहते हैं कि उन्हें मेरी माँ मेनका से सम्बन्ध हो जाने के पश्चात् बड़ी ग्लानि हुई थी, उनका तप भंग हो गया था, वे ब्रह्मर्षि होने के लिए तप कर रहे थे। वे राजर्षि थे, एक राजा थे। महर्षि ने मेरा पालन-पोषण किया अतः वे मेरे पिता ही हुए।"

राजा दुष्यन्त बोले, "कल्याणी! तब तो तुम राजकन्या हो, ब्राह्मणपुत्री नहीं!"

तंद्रा टूट गई! ऋषिकुमार ने आज्ञा माँगी। "अरे! जलपान किये बिना भाई कैसे जा सकते हैं?" इतने में कक्ष में सम्राट भरत ने प्रवेश किया, ऋषिकुमारों को प्रणाम किया। सम्राट को भी अपना बचपन याद कि वे कैसे सिंहशावकों के साथ क्रीड़ा किया करते थे। एकदम बोल पड़े, "माताश्री! बहुत दिन बीत गये आश्रम जाना नहीं हो पाया, चलने का कार्यक्रम बनाया जाय।" सम्राट और राजमाता चतुरंगिनी सेना (पैदल, घुड़सवार, हाथीसवार सैनिक और रथसवार सैनिक) के साथ गहन वन में होते हुए आश्रम से कुछ दूर आकर रुके। वहाँ से पैदल ही आश्रम क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया, ताकि आश्रम की शान्ति भंग न हो।

महर्षि कण्व अग्निहोत्र तथा अपनी दैनिक उपासना से निवृत्त ही हुए थे। अपनी शकुन और भरत को देख मोहमुक्त महर्षि अपने प्रेमअश्रु नहीं रोक सके!

''कैसी हो शकु! दुष्यन्त के महाप्रयाण के पश्चात् मिलना तो था!''

शकुन कुछ बोल नहीं पाई, पुनः अपने बीते दिनों की याद में खो गई, गन्धर्व विवाह के पूर्व दुष्यन्त के प्रणय निवेदन वह ठुकरा न सकी थी। महर्षि की महानता थी कि उन्होंने न केवल क्षमा किया, शकुन को याद आया, महर्षि ने तब कहा था–''यौवन की सन्धि में चूक होना स्वाभाविक नैसर्गिक क्रिया है। जो होगा या हो गया, उसे भूल अब अपनी भावी सन्तान के लिए तुम्हें तैयार रहना है।'' दुष्यन्त राजमहल में बुलाने का वादा कर जा चुके थे। और किस प्रकार महर्षि के संरक्षण में भरत का जन्म हुआ और प्रारंभिक शिक्षण मिला। उसने कुमार अवस्था में ही वेद, योग, युद्धकला आदि में निपुणता प्राप्त कर ली।

एक दिन पिता श्री कण्व ऋषि ने ऋषिकुमारों के साथ शकुन और कुमार को भेजते हुए कहा था–''महाराज दुष्यन्त ने राजकाज में तुम्हें बिसरा दिया। जाओ अपने अधिकार को प्राप्त करो। प्रेम से प्राप्त अधिकार स्थाई होते हैं। बड़ी कुशलता, धैर्य व शान्ति से अपना निवेदन करना। भगवान् शिव तुम्हारी सहायता करेंगे।''

महाराज दुष्यन्त एक कूटनीतिज्ञ राजा थे, उन्होंने शकुन को राजसभा में पहचानने से इंकार कर दिया। शकुन के पैर से धरती खिसक गई। काटो तो खून नहीं। वह अवाक् थी। कुमार भरत पैर के नखों से धरती कुरेद रहा था। सभासदों से सभा भरी हुई थी, सभासद विद्वान और शूरवीर दोनों थे।

शकुन ने बोलना आरंभ किया, ''राजन! मुझे आप भिक्षुक न समझें। मैं महर्षि की पुत्री शकुन्तला हूँ। याद कीजिये आपने मेरा पाणिग्रहण किया, यह कुमार आपका पुत्र है।''

सारी राजसभा सन्नाटे में थी। राजा तपाक से बोल पड़े–''अरी तापसी! तू लगती तो सुसंस्कृत है, पर तू है किसकी पत्नी–मुझे तो कुछ स्मरण नहीं।''

वह तपस्विनी विषाद की अग्नि में जल उठी, उसकी आँखों में लाली

छा गई और अश्रु आ गये।

वह बोल उठी–"राजन! आपका हृदय साक्षी है कि सच क्या है? परमात्मा सबके हृदय में बैठा है। वह ही सब कृत्यों का साक्षी है? वह सबके पाप-पुण्य जानता है। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, आकाश, यम, दिन, रात, सन्ध्या और धर्म सदैव साक्षी हैं। ये मनुष्य के शुभ व अशुभ कर्मों को जानते हैं। मुझ पवित्र पतिव्रता का महाराज तिरस्कार न करें और वाचिक पाप से बचें!"

महाराज दुष्यन्त ने अपने ऊपर लगाये गये आरोपों को सहज नहीं लिया। अपनी ही भरी सभा में वे पकड़े गये थे, उससे बचाव तो करना था कि उन्होंने पूर्व में न बताकर अपनी सभा की मर्यादा को भंग किया था। वे बोल उठे–"अरी भद्रा! मैं नहीं ज़ानता कि मैंने तुझसे कब पुत्र उत्पन्न किया, स्त्रियाँ प्रायः झूठ बोलती हैं। तू कहती है कि ऋषिश्रेष्ठ विश्वामित्र तेरे पिता हैं! ऋषि कण्व तेरे पिता हैं! सच क्या है? ऋषि कण्व तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, विश्वामित्र महान तपस्वी हैं! मेनका से उनका क्या और कैसा सम्बन्ध!"

"राजन, सत्य स्वयं परमात्मा है! सत्य ही श्रेष्ठ प्रतिज्ञा है! मैं सत्य कहती हूँ! मैं सोचती हूँ कि एक झूठे पति के साथ कैसे निर्वाह होगा! चल भरत!"

विषादमयी किन्तु शान्त शकुन ने जैसे ही राजसभा छोड़ना चाहा, एक सभासद जो सबसे वरिष्ठ जान पड़ते थे, उठे और बोले–"राजन! एक स्त्री भरी सभा में आप पर लांछन नहीं लगा सकती और अपने वैध या अवैध भौतिक सम्बन्धों का खुले बखान नहीं कर सकती। यह सुसंस्कृत तपस्विनी झूठ बोले ऐसा भी नहीं लगता। महाराज, स्त्री मन की वेदना समझना बहुत कठिन है।"

राजा दुष्यन्त ने पुरोहितों और मंत्रियों से इस गंभीर कथन और शकुन्तला के कथन का परिशोधन करने के लिए कहा। विचार-मन्थन चल ही रहा था कि महर्षि कण्व ने सभा में प्रवेश किया। सभी सभासदों और महाराज ने उठकर उनका वन्दन किया।

"स्वागत महर्षि।" दुष्यन्त कुछ घबराये हुए से बोले।

स्वागत-सत्कार की औपचारिकता पूरी होने के पश्चात् महर्षि कण्व

ने कहा–"राजन! सत्य क्या है और झूठ क्या है–यह व्यक्ति स्वयं जानता है। जब आप आये मैं तो आश्रम में था नहीं! आप कब आये, कब गये यह आप ही जानें! किन्तु मेरी पालिता पुत्री स्वयं में भी झूठ नहीं बोलती! सत्य बोलती है–सत्य महान तप है, इस तपस्विनी का तिरस्कार न कीजिये! देव से बड़ा कोई साक्षी नहीं!"

सभी सभासद एक स्वर में बोल उठे, "राजन, सत्य स्वीकार कीजिये!"

दुष्यन्त सिर पकड़कर बैठ गये। उन्हें सब-कुछ स्मरण हो आया और बोले–"भद्रे! मैंने तुम्हारे प्रति जो कठोर वचन कहे वे न कहता तो सभा की मर्यादा कैसे रहती!"

शकुन्तला मानो सोते से जाग उठती है, "अरे भरत! मैं कहाँ थी और कहाँ हूँ?"

"माता हम लोग आश्रम में हैं। देखो, ये आपकी सखियाँ हैं, ये महामना महर्षि हैं।"

महर्षि बोल उठे–"बेटी! तुम भूत में खो गई थीं, वर्तमान कैसा भी हो, भूत की कटु या मधुर स्मृतियाँ मन को उद्वेलित करती रहती हैं। स्वस्थ चित्त हो, वर्तमान में रहो, यही सुख है। राजमाता होते ही तुम अधिक मोहग्रस्त जान पड़ती हो!"

महर्षि कण्व बोलते जा रहे थे, भरत गंभीरतापूर्वक सुन रहे थे। वहीं शकुन्तला का मन पुनः-पुनः भटकता जा रहा था। स्वाभाविक क्रिया थी, दुष्यन्त का स्थाई विछोह कचोटता था। वैधव्य की वेदना शकुन्तला के चित्त को स्थितप्रज्ञता से दूर कर चुकी थी, उसकी यौगिक साधना मोह की बलि चढ़ चुकी थी और वह केवल एक नारी थी, पत्नी थी, माँ थी–प्रेम, प्रणय और ममता की मूर्ति थी।

योगी कण्व ने आगे कहा, "शकुन्तला ऊपर उठो–चित्त पर से मोहजनित आवरण हटा लो...मोह सब व्याधियों का मूल है। तुम्हें व्याधिग्रस्त हो नहीं रहना है। तुम मेरी और ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की महान पुत्री हो..." वाक्य पूरा भी नहीं हो पाया था कि एक ब्रह्मचारी ने सूचना दी–

"गुरुवर, ब्रह्मर्षि विश्वामित्र आ रहे हैं।" सब उनकी प्रतीक्षा करने

लगे। वे आये, सबने खड़े हो प्रणाम किया, कण्व ऋषि ने आलिंगन किया।

कुशलक्षेम पश्चात् ऋषि कण्व बोले–"महात्मन! आप ब्रह्मर्षि के रूप में वशिष्ठ मुनि द्वारा मान्य किये गये, मैंने सुना था। बड़ी प्रसन्नता हुई–आप पधारें! स्वागत है। और देखिये कैसे विचित्र संयोग हैं।" शकुन्तला की ओर संकेत करके बोले–"यह आपके तपभंग की सुफल पुत्री शकुन्तला है और महाराज भरत इसका पुत्र है।"

विश्वामित्र ने आशीष दिया– "मंगल हो! शुभम् भवतु!" ऋषि कण्व को संबोधित करके बोले–"ऋषिवर! कौन किसका पुत्र, कौन किसकी माता और कौन किसका पिता–सब महाकाल के धुन्ध में खोये हुए हैं। सृष्टि बनती है, बिगड़ती है–यही परमेश्वर का खेल है।" भरत को संबोधित कर बोले, "राजन! भू-प्रबन्धन करवाकर ईश ने एक बड़ा काम तुमसे करवाया है और यह राष्ट्र भारत हो गया। भारतवर्ष के तुम महाराजा हो–सेवक हो। पर स्वामी ईश्वर है यह कभी मत भूलना। उपनिषद् का यह सूत्र सदैव चित्त में रखना–

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।

सबका कल्याण हो!"

और पाद्य अर्घ्य और फलाहर ले चल पड़े। विश्वामित्र निर्मोही थे ही, कौन पुत्री? कौन दौहित्र?

आश्रम में सन्नाटा-सा छा गया! शकुन्तला का नारी मन पुनः उद्वेलित हो उठा, 'क्या ये ही विश्वामित्र मेरे पिता थे जिन्होंने दृष्टिपात भी नहीं किया? यदि पिता कण्व नहीं होते तो वन में मैं हिंसक पशुओं का भोजन बन गई होती। भगवान् ने अजब सृष्टि की रचना की है।'

और याद आने लगी ऋषिवर कण्व की शिक्षा जो उसे शैशव अवस्था से मिली थी–'विवाह का उद्देश्य जानकर नारी घोर से घोर विपत्ति में भी पति का अनुगमन करती है। वह एकान्त में सखा, धर्मकार्य में पत्नी और कष्ट में माता का काम करती है। मैंने निर्वाह किया। सती नहीं हुई क्योंकि उनके (दुष्यन्त के) शेष कार्यों को भरत से उनकी इच्छानुसार पूरा करवाना था। यदि ऐसा न करती तो प्रजा कष्ट पाती और प्रजा का कष्ट राजा को घोर नर्क में डालता है, उन्हें नर्क से बचाने के लिए

में रही और अब उद्देश्य पूरा हुआ लगता है...'

मानो सोते जागी हो–बोली, "भरत! जाओ, समुद्र से घिरे प्रदेश में प्रवेश करो! मैं अब आश्रम में शेष जीवन पूरा करना चाहती हूँ, महर्षि को कोई आपत्ति नहीं होगी, आश्रम तो दीन-दुखियों को आश्रय स्थल है!"

महाराज भरत अपनी माता शकुन्तला को महर्षि कण्व के आश्रम में छोड़ चले गये।

दिन पर दिन बीतने लगे। शकुन्तला आत्मोन्नति की परम साधना में लीन रहने लगी। यह तपस्विनी का नया स्वरूप था। आश्रम की मुनि-पत्नियाँ उसकी गुरु साधिकायें, उसकी बहन थीं। साधना निर्विघ्न चलने लगी। यह था आत्मिक सुख जिसे पाने के लिए उसने राजप्रासाद की यात्रा की थी, जिसे वहाँ मोह चट कर गया था।

अचानक उसने देखा कि महर्षि उसकी कुटिया की ओर चार ब्रह्मचारियों के साथ चले आ रहे हैं, वह उठ खड़ी हुई। कुटिया के बाहर आई, मुख पर तेज था, शरीर वयमान से कुछ थका-सा था, बोली–"ऋषिवर! मुझे बुला लिया होता! आप पधारे, स्वागत है।"

महर्षि बोले–"शकुन! इन्द्रप्रस्थ चलना है। जल्दी तैयार हो जाओ। भरत अश्वमेध यज्ञ कर रहा है।"

"ऋषिवर! यज्ञ-यज्ञादि से–भारतीय परिवार से मेरा अब कोई काम नहीं। चलूँगी तो पुनः भू व पुत्रवधू सुनन्दा के मोहजाल में फँस जाने की संभावना है।"

"लगता है तुम्हारी साधना अभी अपूर्ण है। पतझड़ जैसी स्थिति नहीं बनी! जपों की मात्रा बढ़ा दो–तुम्हारा कल्याण हो।"

ऋषिवर चले गये। कुछ काल बीत गया। यज्ञ से दान-दक्षिणा में गौ व स्वर्ण की सौ सहस्र मुद्राएँ लेकर आये। आश्रम में चहल-पहल थी। किन्तु, शकुन्तला अपने आत्मस्वरूप में निमग्न थी।

भरत ऋषि के साथ आये थे–"माता प्रणाम! आपके आशीष से अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हुआ!"

बिना दृष्टिपात किये शकुन्तला बोली–"कल्याण हो!"

बस एक राजरानी का यही अन्त था। भरत उनकी अन्त्येष्टि कर राजधानी लौट राजकार्य में लीन हो गये। महर्षि का तप चलता रहा।

सत्यवती

भारतीय संस्कृति की तेजस्वी गाथाएँ पंचनद व भिनद गाती रही हैं। उनमें प्रवाहित जल की कलकल करती ध्वनियों में इतिहास गुंजार करता है। इन महान सरिताओं में भगवान् श्री बालकृष्ण की क्रीड़ास्थली यमुना तट था।

यमुना के दोनों तटों पर दूर-दूर तक रेत बिछी हुई थी, गंगापुत्र युवराज देवव्रत ने तट पर बनी हुई स्वच्छ उद्यानयुक्त कुटिया के द्वार पर पुकार लगाई–

"निषादराज!" कुटिया के भीतर से अत्यन्त सुन्दर स्वर्ग की अप्सरा-सी नवयुवती निकलकर आई।

"स्वागत है युवराज! बाबा अभी आते हैं, जाल का एक टाँका पूरा कर लूँ! आप विराजें!" पीपल वृक्ष के आसपास बने चबूतरे पर एक आसन बिछा दिया। युवराज देवव्रत बैठ गये–आसमान देखा, पीपल के पत्तों से निकलती हुई मन्द-मन्द खड़खड़ करती ध्वनि सुनी, कुछ पत्ते उनके आसपास गिरे, कभी यमुना की लहरों को देखते जो तट से टकरा-टकराकर टूटती जाती थीं–विचार में मग्न थे। निषाद अपने उत्तरीय को ठीक करता हुआ कुटिया से बाहर आया, बोला, "अभिवादन युवराज! कैसे पधारना हुआ?"

"निषादराज! मैं आपकी पुत्री का हाथ अपने पिता महाराज शान्तनु के लिए माँगने आया हूँ।"

"युवराज!" निषाद चौंक पड़ा। युवराज देवव्रत के साथ आये वरिष्ठ राजदरबारी और सैनिक भी चौंक पड़े। यदि देवव्रत ने अपने लिए युवती का हाथ माँगा होता तो बात अलग थी, किन्तु अपने पिता जो प्रौढ़ अवस्था में प्रवेश कर चुके थे, युवती और उनकी आयु में दोगुना अन्तर था, का हाथ माँगा था।

निषादराज की भौंहें तन गईं और कहने लगा–''विचित्र स्थिति है, पिता अपने पुत्र के लिए कन्या माँगता है और यहाँ पुत्र पिता के लिए...आप गंगापुत्र हैं, आपका प्रत्येक शब्द पवित्र है, आप भगवन् परशुराम के शिष्य हैं, प्रकाण्ड विद्वान हैं, मैं नहीं समझता कि आप मेरा और मेरी पुत्री सत्यवती का उपहास कर रहे हैं, बल्कि उसे अपनी माता का स्थान देकर मेरा और उसका सम्मान कर रहे हैं।''

"निषाद बाबा! मेरे पूज्य पिता महाराज शान्तनु प्रथम दृष्टि में सत्यवतीजी पर मोहित हो गये, फिर मेरे कर्तव्य को आप समझ सकते हैं। मोहजनित भय बड़ा विकराल होता है। उन्हें भय है कि पड़ोस के जनपद, जो यदा-कदा आक्रमण कर हस्तिनापुर को हड़पना चाहते हैं, और यदि युद्ध में मैं मारा गया तो वंश समाप्त हो जावेगा, इसलिए और पुत्र की चाह उन्होंने प्रकट की है–''

मोह और काम का जोड़ा है। गंगा महारानी के चले जाने के बाद राजा शान्तनु अपनी काम-वासना पर विनियंत्रित हो चले थे। ऐसे में एक दिन उन्होंने यमुना के इसी तट पर सत्यवती को, जो धर्मार्थ अपने पिता निषाद की सहायता के लिए नाव चलाया करती थी, अन्य निषाद कन्याओं, बालाओं और स्त्रियों बीच देखा था। वह उन सबमें उन्हें अद्वितीय सुन्दरी लगी थी। लेकिन वे अपनी अवस्था पर विचार कर चुपचाप राजप्रासाद आ गये थे और अजीब-सी उद्विग्नता उनके मुखमण्डल पर दिखाई देने लगी थी, राजकार्य से चित्त उचट गया था। जब युवराज देवव्रत ने मंत्रियों से सलाह करके महाराज शान्तनु से जोर देकर पूछा तो उन्होंने लड़खड़ाती हुई वाणी में कहा–''पुत्र! तुम बलवान हो, सत्यनिष्ठ हो, विद्वान हो, हस्तिनापुर के भावी राजा हो! किन्तु...''

महाराज के मन को समझने में देवव्रत को देर नहीं लगी! अपने वरिष्ठ मंत्रियों को साथ लेकर वे यमुना तट पर निषादराज के पास आये।

निषादराज ने याचक युवराज के सम्मुख अपनी शंका और शर्त रखी। वह एकदम राजा के मन्तव्य के विरुद्ध जाना नहीं चाहता था। एक तो सत्यवती सुन्दरी थी और देवर्षि असित से लेकर अन्य जनपद के राजा उसकी माँग कर चुके थे, उसे भय था कि कहीं सत्यवती का अपहरण न हो जाय! युवती की रक्षा करने में देव को भी पसीना छूट

जाता है। निषाद अपनी और सत्यवती की सुरक्षा को लेकर वैसे ही चिन्तित था। निषादराज ने क़हा–"सत्यवती एक श्रेष्ठ राजा की पुत्री है, वे आप लोगों की बराबरी के हैं। पारिवारिक संकटों के चलते शिशु अवस्था से ही इसको मेरे पास पालन-पोषण हेतु रख छोड़ा था। पालन करने के कारण मैं भी पिता हुआ। परिस्थितिवश राज्य का लोभ किसे विचलित नहीं करता, यदि इसकी सन्तान के आप शत्रु हो गये तो?"

देवव्रत ने अपने साथ आये वरिष्ठ क्षत्रिय मंत्रियों के समाज में प्रतिज्ञा कर डाली, "निषादराज! मैं शपथपूर्वक यह सत्य प्रतिज्ञा लेता हूँ कि आपकी पुत्री से जो पुत्र होगा वही हस्तिनापुर राज-सिंहासन पर बैठेगा।"

निषाद तपाक से बोल उठा, "कहीं आपकी सन्तान ने बैर पाल लिया फिर उनकी रक्षा का क्या?" देवव्रत ने अपने दाहिने हाथ को उठाकर प्रतिज्ञा कर डाली–"...मैं आज से अखंड ब्रह्मचारी रहूँगा! हस्तिनापुर के राज-सिंहासन के प्रति निष्ठा मेरा व्रत रहेगा।" इस प्रतिज्ञा से देवव्रत न केवल भीष्म हो गये बल्कि बँध गये।

अपनी माँ सत्यवती को लेकर राजप्रासाद आये और महाराज शान्तनु से उनका विवाह सम्पन्न कराया।

महारानी सत्यवती का नया जीवन आरंभ हो गया! यमुना तट पर मुक्त रहने वाली राजप्रासाद की बन्दिनी बन गई। दो पुत्र की माता भी बन गई। चित्रांगद और विचित्रवीर्य देवव्रत भीष्म की देखरेख में युद्ध-कौशल में न केवल प्रवीण हुए वरन् राजनीति के धुरन्धर विद्वान भी बने।

राजा शान्तनु अपनी जीवनलीला पूरी कर सदैव के लिए शान्त हो गये। सत्यवती विधवा हो गई। चित्रांगद को बड़ा होने के कारण राजसिंहासन पर बिठाया गया। पड़ोस के हिममण्डित गान्धर्व प्रदेश के राजा ने आक्रमण कर दिया। कुरुक्षेत्र के मैदान में घमासान युद्ध हुआ। चित्रांगद युद्ध में खेत (मारा) रहा।

विचित्रवीर्य सिंहासनारूढ़ हुआ। सत्यवती शान्तनु वंश वृद्धि के लिए चिन्तित रहने लगी। विचित्रवीर्य ने अपने कुमार अवस्था की सन्धि पार ही की थी! उन्हीं दिनों समाचार मिला कि काशी नरेश की तीन पुत्रियों का स्वयंवर हो रहा है। भीष्म वहाँ पहुचे। तीनों बालाओं ने विचित्रवीर्य

की ओर रुख भी नहीं किया। भीष्म इतने बलशाली थे कि अकेले ही उपस्थित राजाओं और विशाल क्षत्रिय सेना को हराकर तीनों बालाओं का अपहरण कर उन्हें हस्तिनापुर ले आये।

अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका में अम्बा बड़ी बालिका थी। उसने भीष्म से कहा, "भीष्म! मैं राजा शाल्व को मन ही मन अपना पति मान चुकी थी, इसमें मेरे पिता की भी सम्मति थी। मैं स्वयंवर में उन्हें ही वरमाला पहनाती–मेरी बात समझकर धर्मानुसार आचरण करें।"

अम्बा शाल्व के पास जाने दी गई। किन्तु शाल्व ने स्वीकार नहीं किया और वह हिमालय की कन्दरा में तप करने और अपने आराध्य शिव को प्रसन्न करने चली गई।

अम्बिका और अम्बालिका का विवाह विचित्रवीर्य से कर दिया गया। सत्यवती राजमाता होने के साथ-साथ दो बहुओं की सास बन गई। इतिहास कहता है कि विलासी जीवन जीने वाले की आयु कम होती है। विचित्रवीर्य अल्प आयु में विलासी हो चुका था, उसे क्षयरोग ने सताया, बहुत उपचार के पश्चात् भी उसे बचाया नहीं जा सका!

एक विचित्र स्थिति निर्मित हो गई कि हस्तिनापुर की राजगद्दी पर कौन बैठे? सत्यवती का स्वप्न भंग हो रहा था, भीष्म अपनी प्रतिज्ञा से बँधे थे!

सत्यवती ने अपने दीर्घ अनुभव का सहारा लिया, और यह बात फैला दी गई कि अम्बिका और अम्बालिका गर्भ से थीं, इस गोपनीय रहस्य को उसकी दासी के अलावा राजप्रासाद की चारदीवारी के बाहर तो क्या भीतर भी कोई नहीं जानता था। राजकार्य चलाने और पड़ोसी क्षत्रपों के मन्सूबों को दबाये रखने के लिए एक बड़ा भारी अस्त्र और शस्त्र दोनों था, इससे आन्तरिक देशीय शान्ति और बाहरी आक्रमण के प्रति दबदबा बनाया रखा जा सका था।

इसी घटनाक्रम में जब सारा राजप्रासाद शोक में डूबा हुआ था, सत्यवती ने अपने कौमार्य अवस्था में जन्मे पुत्र, जो तपस्वी, विद्वान, आचार्य, भविष्यदृष्टा, वक्ता, दैविक शक्ति सम्पन्न बन चुके थे, को स्मरण किया।

विचारों में खोई-खोई सत्यवती के मानस-पटल पर घूम गया कि

वह अपने यौवन और बालपन की सन्धि पर पहुँची ही थी, नाव खेने का काम वह धर्मार्थ करती थी। एक सुनहरे दिन के समय ऋतु परिवर्तन के मोहक दृश्य को निहार रही थी। पशु, पक्षी, जलचर व थलचर ऋतु अनुसार काम-क्रीड़ा में तल्लीन थे, एक गंभीर आवाज सुन वह चौंक गई थी।

"बाले! यमुना पार चलना है!..." बलिष्ठ सुन्दर तपस्वी युवक देख एक पल वह आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकी। "चलिए!"

बीच भँवर में नाव हिचकोले खाने लगी, उसकी शौष्ठव देह बलिष्ठ देह से टकराने लगी। दोनों फिसल गये। एक का व्रत भंग और दूसरे का तप भंग! बालक-यौवन के सन्धिकाल में कौन कब फिसल जावेगा, निसर्ग के अलावा कोई नहीं जानता।

वह युवक बोल उठा–"बाले! मैं ऋषि पाराशर आशीर्वाद देता हूँ कि तुझसे जो पुत्र होगा वह परम विद्वान श्रेष्ठ होगा! और तेरा कौमार्य पुत्र जन्म के उपरान्त यथावत् बना रहेगा।" और चले गये महाधार में छोड़कर।

सत्यवती बहुत रोई। उसका रोना सुन निषादपति सत्यवती की पालक माँ आई! माँ को समझने में देर नहीं लगी। "अरे! सत्या! यह क्या किया? अब इसे पिता निषादराज से कैसे गोपनीय रखा जा सकेगा? क्योंकि कुमारी माँ का भविष्य और सन्तान का भावी जीवन अत्यन्त अन्धकारमय होता है।" विचार करने लगी! कुछ योजन दूरी पर ऋषि असित का आश्रम था, वे कभी सत्यवती को चाहते थे, उन्होंने गन्धर्व कन्या से विवाह कर लिया था। निषादपति सत्यवती के साथ अपने पति निषादराज से यह कहकर चली गई कि "असित मुनि के आश्रम में कुछ दिन रहने के लिए जा रही हैं।" सारे असामाजिक घटना-क्रम को गोपनीय रखने का और कोई तरीका नहीं था।

सत्यवती-नन्दन कालान्तर में इतिहास पुरुष परम तपस्वी वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे वैज्ञानिक भी थे। उनका अपना आश्रम था। 'उनको महारानी सत्यवती ने याद किया है' यह सन्देश गोपनीय तरीके से विश्वस्त दासी के माध्यम से उन तक पहुँचाया गया।

मुनिश्रेष्ठ व्यास आये, उन्होंने आते ही माँ को प्रणाम कर बुलाने

का कारण पूछा–"मातश्री! विचित्रवीर्य के चले जाने के पश्चात् भीष्म के होते हुए मुझे क्यों याद किया?"

सत्यवती ने कहा–"ज्येष्ठ पुत्र, विचित्रवीर्य वंश चलाने के लिए आगे कुछ छोड़ नहीं गया..."

"माते! मेरी ज्योतिषीय गणना के अनुसार तुम्हारा राजवंश तो अभी चलेगा।"

"पर कैसे?" सत्यवती का प्रश्न था।

मुनि व्यास ने कहा–"दोनों रानियों अम्बिका और अम्बालिका को मेरे सामने आने के लिए कहो!"

दोनों शोकचित्त रानियाँ संकोच व लज्जा लिए व्यासजी के सम्मुख आईं, अम्बिका ने नेत्र बन्द कर रखे थे और अम्बालिका भय से कँपकँपाती हुई पीली पड़ रही थी और बुलाने वाली दासी पीछे निःशंक खड़ी थी। मुनि व्यास ने दृष्टिपात किया, उनके नेत्रों से तेज झलक रहा था, वे आशीर्वाद देते हुए बोले–"इनके गर्भ में पुत्र पल रहे हैं! माँ निश्चिन्त हो जा, राज्य सँभालने वाले आ रहे हैं। अरे! यह दासी भी गर्भवती है। इसे भी विद्वान पुत्र का आशीर्वाद! माँ! ये नियोग से जन्मेंगे।"

माँ सत्यवती इस भविष्यवाणी से आश्वस्त हुईं। अपने ज्येष्ठ पुत्र व्यास को सआशीर्वाद विदा किया। मुनि व्यास ने जाते-जाते कहा–"समय-समय पर आता रहूँगा!–" और वे हिमालय में स्थित बद्री गुफा में अपनी सृजनात्मक साधना करने के लिए चल दिये।

गर्भावधि पूरी होने पर सत्यवती के दो पौत्र हुए। अम्बिका के धृतराष्ट्र और अम्बालिका के पाण्डु! धृतराष्ट्र जन्मान्ध हुए और पाण्डु पीले थे इसलिए उन्हें पाण्डु के नाम से ही संबोधित किया जाने लगा।

देवव्रत भीष्म की देखरेख में दोनों ने राज्य संचालन सीख लिया, किन्तु सिंहासनारूढ़ पाण्डु ही किये गये क्योंकि ज्येष्ठ धृतराष्ट्र की दृष्टिहीनता की लाचारी थी।

इतिहास करवट लेकर पीछे पलटता नहीं है, घटनाएँ आगे-आगे घटित होती जाती हैं। पाण्डु निःसर्ग के निकट रह अपने पाण्डु रोग के उपचार में लगे थे, ऐसी ही दशा में वे अपनी दो पत्नियों कुन्ती और माद्री के साथ पाँच पुत्रों के पिता बने। प्रपौत्र के समाचार से सत्यवती

की प्रसन्नता का बखान नहीं किया जा सकता। हस्तिनापुर के राजप्रासाद में धृतराष्ट्र-गान्धारी ने सौ पुत्रों को जन्म दिया। वे पुत्र क्या थे तामसिक वृत्तियों के महाधनी जबकि पाण्डु के पाँचों पुत्र सात्विक सहराजसिक वृत्तियों वाले थे। पितामह भीष्म की इच्छानुसार योग्य गुरु द्रोणाचार्य के सान्निध्य में उनके पठन-पाठन, शस्त्र चालन और राज्य व्यवस्था सम्बन्धी शिक्षण सुचारु रूप से चलने लगा था कि राज्य के लोभ ने इन चाचा व ताऊ के भाइयों में अजीब-सी ईर्ष्यापूर्ण प्रतिस्पर्धा को जन्म दे दिया जिसने आगे चलकर विनाशकारी महायुद्ध को जन्म दिया।

दीर्घ आयु जहाँ साधन के लिए वरदान होती है वहीं लौकिक दृष्टि से अभिशाप साबित होती है। सत्यवती काफी वृद्ध हो गई थीं। उन्होंने जीवन में पति शान्तनु को खोया, पुत्र चित्रांगद और विचित्रवीर्य खोये और पौत्र पाण्डु को चिरनिद्रा में सोते देखा। राजप्रासाद में ऐसी उलझीं कि उन्हें अपने भविष्य का ध्यान ही नहीं रहा। शोक व्याकुल कर रहा था। मुनि व्यास का स्मरण किया और उन्हें बुलवा भेजा।

सत्यवती ने कहा, ''पुत्र ! तुम कपिल मुनि की भाँति मुझे उपदेश दो! सत्संग से व्याकुलता, उद्विग्नता, शोक व चिन्ता मिट सकती है।''

मुनि व्यास ने कहा ''माताजी! अब प्रासाद का त्याग करो! तप के लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं। योगिनी बनकर योग करो! अपनी आँखों से अपने वंश का विनाश देखना अत्यन्त कष्टदायक होता है। बड़ा भारी नरसंहार होने वाला है—यह दिखाई दे रहा है। सुख के ये दिन सदैव नहीं रहते हैं। मोह त्यागे बिना आप न तप कर पावेंगी और न ही योग साधना।''

माता सत्यवती ने आगे कुछ पूछना चाहा तो मुनि व्यासजी ने कहा, ''वन में जाकर तप व योग किया जाय और अपने अभीष्ट मोक्ष या परमशान्ति प्राप्त की जा सकती है। जितनी शीघ्र हो सके उतनी शीघ्रता से हस्तिनापुर छोड़ किसी सिद्ध ऋषि द्वारा स्थापित आश्रम में वास करो, कुछ दिन रह साधन करो!'' और व्यासजी हिमालय की कन्दराओं में स्थित अपनी व्यास गुफा में पुनः सृजन हेतु चले गये।

सत्यवती ने भीष्म देवव्रत से सलाह की और बहुओं अम्बिका और अम्बालिका को साथ लिए हिमालय के घने जंगल में चली आई।

वनवासियों-सा जीवन बिताने की तो वह आदी थी। अपना शैशव व यौवन का पूर्वार्द्ध जंगल के निकट यमुना तट पर बिताया था। किन्तु काशी नरेश की पुत्रियों के लिए कठिन था, संहार देखने से तो बहुत अच्छा था कि वे भी अपने नरदेह पाने के उद्देश्य को पूरा करतीं।

तीनों का भागीरथी के तट पर तप चलने लगा, ऋषि-मुनियों के साथ-साथ ऋषि-पत्नियाँ उन्हें वेद, उपनिषद, पुराण आदि की कथाएँ सुनाकर चैतन्यता प्रदान करती रहतीं। व्यासजी यदा-कदा भी नहीं आते। उनका आगमन पुनः मोह को जन्म दे सकता था और उनके व्याधियाँ पैदा हो जातीं। अपने आपको सत्यवती ने भूलने का प्रयास किया। निषादराज के वंश की, अपने वंश की क्वचित याद भी नहीं आती थी। क्वचित स्मरण भी व्याकुलता का कारण होता है।

और एक दिन महाकाल का सन्देश आया, वन में दावानल फैल चुका था। वे तीनों तपस्विनी दावानल की अग्नि में स्वाहा हो पंचतत्व में विलीन हो चुकी थीं। सत्यवती ने सत्य को पा लिया था।

अम्बा

प्रीत किये दुख होत है, प्रीत न करियो कोय...कहावत यदि किसी के जीवन में घटी तो वह है महाभारतकालीन काशीराज की तीन पुत्रियों में ज्येष्ठ पुत्री अम्बा। अम्बा अपने जीवन की अत्यन्त नाजुक बाल और यौवन की सन्धि अवस्था से गुजर रही थी कि उसने बलिष्ठ युवक राजकुमार शाल्व को देखा। शाल्व सौराष्ट्र से काशी तीर्थाटन करने आया था। वह शाल्व पर मोहित हो गई। शाल्व की दृष्टि में भी अम्बा चढ़ गई। वह नवयौवना तो थी ही दूसरे राजकन्या। अत्यन्त कोमल और सौन्दर्य को लजाने वाली अम्बा गंगास्नान कर तट पर खड़ी अपने केश सुखा रही थी। दो युवा प्राणी एक-दूसरे के निकट आ सकें ऐसा कार्य करने लगे—शाल्व ने अपना उत्तरीय ऐसे उड़ा दिया कि वह अम्बा के निकट जा गिरा, शाल्व उसे उठाने के लिए अम्बा के पास तक आया। धीरे से मुस्कराकर पूछा, "बाले! तुम कौन हो..."

अम्बा तो चाहती ही थी कि वार्तालाप हो—"मैं काशीराज की ज्येष्ठ पुत्री अम्बा हूँ।"

"सुना है तुम्हारा स्वयंवर होने वाला है।"

"हाँ!" नीची निगाह किये अम्बा बोली।

"किसका वरण करोगी..."

"जो श्रेष्ठ लगे..."

"क्या वह मैं सौराष्ट्र का राजकुमार हो सकता हूँ।"

"नहीं कह सकती! पिताश्री से राय लेकर निश्चित कर सकूँगी।" कहकर शाल्व के मन में एक भाव पैदा कर दिया। यह बीज था जिसमें से प्रीतवृक्ष बड़ा होने लगा। मन ही मन में दोनों के परस्पर विवाह करने के विचार बन गये। काशी नरेश से अम्बा ने जब शाल्व की चर्चा की तो काशी नरेश ने कहा, "अम्बे! अब तुम व तुम्हारी दोनों बहनें वयस्क

हो गई हो। तुम्हें अपने सुख देने वाले साथी का चयन अपनी बुद्धि अनुसार ही करना है। स्वयंवर हो ही रहा है—शाल्व अच्छा युवक राजा है, मुझे प्रसन्नता होगी!"

स्वयंवर की तैयारी जोरों पर चल रही थीं, स्थान-स्थान पर राजा और राजकुमारों को सन्देश भेजे जाने लगे।

स्वयंवर के आयोजन का समाचार हस्तिनापुर पहुँचा। हस्तिनापुर में महाराज शान्तनु का निधन हो चुका था। उनके बड़े पुत्र भीष्म ने प्रतिज्ञाबद्ध हो न केवल राज त्याग दिया था, बल्कि ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा भी वे कर चुके थे। महाराज शान्तनु की दूसरी रानी सत्यवती से चित्रांगद और विचित्रवीर्य दो पुत्र हुए। चित्रांगद गन्धर्वों से युद्ध करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुए तो हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर विचित्रवीर्य आसीन हुए। वे एक कमजोर युवक थे, उन्हें अपने भ्राता देवव्रत भीष्म का पूरा संरक्षण प्राप्त था। माता सत्यवती से सलाह कर देवव्रत भीष्म स्वयंवर हेतु काशी गये। काशी से काशी नरेश की तीनों पुत्रियों का बलात् अपहरण कर उन्हें हस्तिनापुर ले आये।

भीष्म इतने बलशाली थे कि काशी नरेश सहित स्वयंवर में उपस्थित सब राजाओं को हराने में समर्थ हो सके। उनके प्रभाव तथा राजाओं सहित अपने पिता का पराभव देख तीनों कन्याएँ डरी-डरी-सी और सहमी-सहमी-सी, अनमनी-सी, गरीब गायों की भाँति भीष्म के साथ रथ में बैठ हस्तिनापुर आ गईं। वहाँ तीनों का विचित्रवीर्य के साथ विवाह का कार्यक्रम बना।

यह अम्बा को एकदम अपमानजनक लगा। उसका नारीत्व जाग उठा, उसने भीष्म से कहा—"भीष्मजी! आप परम विद्वान हैं, धर्माधर्म के ज्ञाता हैं। मेरी बात सुनें फिर निर्णय करें। मैं मन ही मन राजा शाल्व का वरण कर चुकी हूँ और उन्होंने भी पिताजी को प्रकट न करते हुए एकान्त में मुझे पत्नी रूप में स्वीकार कर लिया है। विचार करें और फिर कोई निर्णय लें!"

भीष्मजी ने विचार किया और अम्बा को वृद्ध ब्राह्मणों और यात्रियों के साथ शाल्व नगर में भेज दिया।

अम्बा ने चैन की साँस ली। बड़ी प्रसन्नता के साथ शाल्व के सामने

गई और बोली–''वीर महाबाहो, मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ।''

शाल्व ने मुस्कराकर कहा–''सुन्दरी! पहले तुम्हारा स्वयंवर दूसरे पुरुष के साथ हो चुका है, इसलिए अब मैं तुम्हें पत्नी रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो चली जाओ।''

अम्बा पर मानो वज्र टूट पड़ा, धैर्य रखते हुए कहा, ''शत्रुदमन! भीष्म मुझे मेरी इच्छा व प्रसन्नता से नहीं ले गये थे, वे बलपूर्वक राजाओं को हराकर मुझे ले गये। मैं तो निरपराध हूँ–आपकी दासी हूँ। अपनी सेविका को त्यागना शास्त्रानुकूल नहीं है। मैं आपके सिवा किसी और वर का चिन्तन भी नहीं करती। मैं अभी भी कन्या हूँ, किसी के साथ मेरा विवाह नहीं हुआ है। मेरी दोनों बहनों का विवाह विचित्रवीर्य के साथ कर दिया गया, मैं स्वयं आपकी सेवा में उपस्थित हुई हूँ। कृपा करें और मुझे सनाथ करें...''

किन्तु, वह शाल्व का विश्वास नहीं पा सकी। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध विश्वास पर आधारित होता है, फिर उसे आनंद की संज्ञा ही क्यों न दी जाय! संसार में कितने कर्म हुए कि स्त्री का परपुरुष से थोड़ा भी नाता बना, चाहे वह बलात् ही क्यों न हो, विश्वास के काँच को तड़का देता है, जोड़ दिया जाय फिर भी जोड़ की काली रेखा अमिट हो जाती है। बहुत सोचते-विचारते अम्बा वहाँ से तपस्वियों के आश्रम चली गई। काशी नरेश भी अपहरित पुत्री को स्वीकार करने में परम्पराओं से बँधे थे। वह और कहाँ ठौर पाती! संतों का हृदय ही उसे सान्त्वना दे सकता था, संत ही करुणा के भण्डार थे, उनका हृदय नवनीत समान होता था। तपस्वी संतों ने उसकी व्यथा सुनी, उनमें से एक ऋषि होत्रवाहन जो उसकी व्यथा सुनकर बहुत अत्यन्त दुखी हुए थे, अम्बा से बोले, ''बेटी मैं तेरा नाना हूँ, तू परशुरामजी के पास जा, वे तेरा दुख दूर कर सकेंगे।''

संयोग से दूसरे प्रातः उसी आश्रम पर महेन्द्र पर्वत से परशुरामजी का आना हुआ। परशुरामजी ने भी सारी व्यथा सुनी। भीष्म, जो उनके शिष्य थे, के सामने परशुरामजी ने अम्बा से विवाह का प्रस्ताव रखा, भीष्म अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ थे।

भीष्म और परशुरामजी में इतनी बात बढ़ गई कि दोनों में हथियार चलाने की तैयारी होने लगी। दोनों में से कोई हार नहीं रहा था, दोनों

मृत्युजित थे।

परशुरामजी से युद्ध का समाचार जब माँ गंगा को पता लगा तो वे आईं और परशुरामजी से क्षमा माँगते हुए युद्ध न करने की प्रार्थना की। किन्तु दोनों ही अपनी-अपनी बात पर अड़े हुए थे।

हृदय हिला देने वाला आश्चर्यजनक युद्ध हुआ! सात दिन बीत गये, हार-जीत का निर्णय नहीं हो पा रहा था। ऋषि-मुनियों ने और माँ भागीरथी ने अन्ततः परशुरामजी को मना लिया कि वे अस्त्र रख दें!

और अम्बा भीष्म के प्रति अपने मन में घृणा का भाव लिए और शक्ति संचय हेतु तप करने चली गई ताकि वह भीष्म का संहार कर सके!

यमुना तट पर अम्बा ने अलौकिक तप किया! अपने तप के प्रभाव से नया जन्म लेकर वत्सदेश के राजा की कन्या बनकर इस लोक में आई। अपने नये जन्म में वह भूल नहीं पाई कि भीष्म ने बहुत निरादर कर उसे बहुत तड़पाया था।

फिर इस जन्म में भी वह तप करने लगी ताकि भीष्म से अपने निरादर का बदला ले सके। बदले की भावना जन्म-जन्मान्तर तक पीछा नहीं छोड़ती। अम्बा ने तपस्विनी बन अन्तर में विराजमान आनंदस्वरूप भगवान् उमापति से प्रेरणा प्राप्त की कि वह भीष्म से अपने अपमान को सम्मान में बदल सके!

और, उन्होंने राजा द्रुपद के यहाँ पुत्री रूप में जन्म लिया। द्रुपद ने शिल्पकला, युद्धकला की शिक्षा आचार्य द्रोण से दिलाई जो उनके मित्र थे।

वह अब शिखण्डी थी। द्रुपद की पत्नी ने चाहा कि शिखण्डी का विवाह कर दिया जाय।

शिखण्डी सोचने लगी कि मेरे कारण मेरे माता-पिता दोनों दुखी हैं। वह प्रतीक्षा करने लगी कि कब अवसर आए और भीष्म से युद्ध हो!

पांचाल नगर में द्रुपद के यहाँ द्रौपदी व धृष्टद्युम्न का जन्म हो चुका था! शिखण्डी पुरुष के रूप में ही रह रही थी, यक्ष का उसे आशीर्वाद था कि उसके पुरुषोचित व्यवहार पर किसी को कोई शंका नहीं होगी!

इस गोपनीयता को भीष्म अपने गुप्तचरों से जान चुके थे। वे अम्बा (शिखण्डी) से हमेशा आशंकित रहा करते थे क्योंकि शिखण्डी भीष्म को मारने के लिए परशुरामजी, अन्य ऋषि-मुनियों से और यहाँ तक कि भगवान् शंकर से याचना कर चुकी थी। जब कोई दो-तीन जन्मों से बैर बाँधकर चलता है या घृणा लिए रहता है तो उससे प्रबल शत्रु कोई हो नहीं सकता।

भीष्म वृद्ध हो चुके थे। उन्होंने अपने सामने विचित्रवीर्य, पाण्डु, युधिष्ठिर और अभिमन्यु को मिलाकर चार पीढ़ियों का सुख लिया था। वहीं उन्हें दूसरी चार पीढ़ियों, विचित्रवीर्य की मृत्यु से उत्पन्न कष्ट, धृतराष्ट्र की लोभ प्रवृत्ति, दुर्योधन की बदले की हीन भावना और लक्ष्मण (दुर्योधन का पुत्र) के साथ रहते हुए मानसिक त्रास सहन करना पड़ रहा था।

पाण्डु के पुत्रों और धृतराष्ट के पुत्रों के बीच शत्रुवत लोभ से नीच कर्मों के बीज पल्लवित होने लगे थे।

पाण्डु के पाँचों पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव बलशाली बन चुके थे, इन्हें अपने ममेरे भाई श्री बलराम और श्रीकृष्ण का संरक्षण प्राप्त था। बलराम अवश्य धृतराष्ट्र के पुत्र कौरवों के प्रति सहानुभूति रखते थे। श्रीकृष्ण का संरक्षण पाकर पाण्डव निश्चिन्त थे। दुष्कर्मों ने एक महासमर को जन्म दिया।

समय भागता चला गया, अम्बा अब शिखण्डी के रूप में योद्धा बन स्थापित थी। उसका स्त्री होने का रहस्य भीष्म, द्रुपद और श्रीकृष्ण के अलावा किसी को पता नहीं था जब तक कि भीष्म ने उसके विरुद्ध युद्ध न करने की अपनी बात कौरवों के सामने नहीं रखी।

शिखण्डी एक महारथी के रूप में युद्धभूमि में स्थापित था! (भगवत गीता में उल्लेख है, 'काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः'–2–17) युद्ध आरंभ होने के पूर्व श्रीकृष्ण शिखण्डी (अम्बा) को एकान्त में ले गये।

इसके पहले कि श्रीकृष्ण कुछ पूछते शिखण्डी बोल पड़ा, "केशव! आपकी पूछताछ के पूर्व ही मैं बता दूँ कि एक रहस्य है जिसे भीष्म भी जानते हैं–मेरे माता-पिता राजा द्रुपद जानते है–भाई धृष्टद्युम्न और बहन द्रौपदी भी नहीं जानती, उसे आप अन्तर्यामी होने के कारण जानते हैं।

मैं जानता हूँ कि आप नर रूप में नारायण हैं।''

श्रीकृष्ण ने कहा, ''बस! अब योद्धा बन युद्ध में अपना मनोरथ भीष्मजी को हराकर पूरा करो—रहस्य को रहस्य रहने दो।''

शिखण्डी बोला, ''कृष्णजी, यदि भीष्मजी ने युद्ध के पूर्व रहस्य खोल दिया तो दो जन्मों की सारी तपस्या पर पानी फिर जावेगा।''

श्रीकृष्ण ने कहा, ''वे ऐसा नहीं करेंगे, क्योंकि वे स्वयं अतिदीर्घ आयु के अभिशाप से थक चुके हैं। दुष्कर्मियों और पापियों के कर्मों ने उनको थका दिया है। वे जानते हैं कि तुम ही उनकी मृत्यु के कारण हो। वे मृत्यु को आत्मसात करना भी चाहते हैं। अब तुम अपने बहनोई अर्जुन के दायें रहकर पूर्ण तन्मयता के साथ यह धर्मयुद्ध करो।''

युद्ध के प्रारम्भ में महारथियों ने शंखध्वनि की। शंखध्वनि करने वाले महारथियों में शिखण्डी प्रमुख थे!

जब व्यूह रचना हो रही थी तो सेनापति भीमसेन से श्रीकृष्ण ने कहा, ''शिखण्डी को अर्जुन के दायें नियुक्त करो।''

युद्ध आरंभ हो चुका था, रात्रि में सब अपने-अपने शिविर में विश्राम हेतु चले जाते थे। अपने शिविर में शिखण्डी रात्रि में अम्बा बन विश्राम करते थे। अम्बा बनते ही बदले की भावना के तीव्र प्रवाह में एक बड़े मानसिक तनाव का प्रहार सहती। प्रातः पुनः योद्धा वेश में अम्बा एक पौरुषीय सैनिक दिखाई देती! कोई नहीं समझ पाया था कि इस रहस्य का बीज दो जन्मों से अंकुरित अपमानजनित बदले की भावना पूर्व से विकसित हो घृणा का विषवृक्ष बन चुकी थी। इस वृक्ष को शाखाओं में अपना निकट का व्यक्ति भी महान शत्रु दिखाई देने लगा।

इस भावना से ग्रसित योद्धा एक क्रूर राक्षस की भाँति बिना विवेक के संहार करता जाता था। युद्ध घृणा का वीभत्स स्वरूप हिंसा का ताण्डव था। महायुद्ध के चलते-चलते दस दिन बीत चुके। भीष्म ने बहुत संहार किया। श्रीकृष्ण भी भीष्म की वीरता के सम्मुख नत थे। हथियार न उठाने के अपने निश्चय के बाद भी ऐसी स्थिति बन गई कि वे रथ का पहिया, रथ के अश्वों की चाबुक ले दौड़ पड़े थे।

नौवें दिन की रात्रि में श्रीकृष्ण ने शिखण्डी के शिविर में जाकर कहा—''भद्रे! भीष्म थक चुके हैं, कल युद्ध प्रारंभ होते ही अर्जुन के सामने

चलना और भीष्म पर प्रहार करते जाना, चाहे भीष्म बाण चलायें या न चलायें, चाहे भीष्म हथियार क्यों न डाल दें तुम्हें बाण चलाते जाना है, पीछे से अर्जुन के तीव्र बाण चलकर भीष्म के कवच का भेदन करते हुए उनके शरीर को छलनी कर देंगें! तुम्हारे सामने आते ही भीष्म धनुष-बाण रख देंगे–वे स्त्री के साथ युद्ध नहीं करते और वे तुम्हें स्त्री ही मानते हैं!''

श्रीकृष्ण की बात मानकर शिखण्डी के वेश में अम्बा ने अर्जुन के सामने होकर युद्ध जब आरंभ किया तो अर्जुन ने रोककर कहा, ''केशव यह क्या है? मैं कैसे बाण प्रहार करूँ? बीच में शिखण्डी है, एक-दो बाण यदि इसे लग गये तो अनर्थ हो जावेगा!''

''कौन्तेय! दायें-बायें होकर चतुराई से प्रहार करते चलो–''

भीष्म ने शिखण्डी को देखते ही इधर-उधर से बाण चलाये। फिर युद्धोन्मत्तता से ऊबकर अपने धनुष-बाण रख दिये। शिखण्डी और अर्जुन को अवसर मिल गया। भीष्म का शरीर छलनी हो गया। वे ऐसे गिरे कि बाणों की उनकी शैया बन गई।

सबसे पहले शिखण्डी उनके पास पहुँचा। भीष्म बोल उठे–''अम्बे! तुम्हारा मनोरथ पूरा हुआ, अब अपना क्लीव का वेश त्याग दो।''

''भीष्मजी! मैं आपको प्रणाम कर आशीर्वाद चाहती हूँ कि मेरी छद्म वेशधारिता का अन्त हो।''

''होगा अम्बे! जाओ युद्ध करती रहो, तुम्हारे जीवन का रहस्य अब क्या कहूँ?''

शाम हो चुकी थी और दसवें दिन का युद्ध समाप्त हो गया था। युद्ध चलते-चलते अठारह दिन बीत गये। आचार्य द्रोण, महारथी कर्ण, शल्य, कुटिल शकुनि, अभिमन्यु, दुर्योधन पुत्र लक्ष्मण, नीचकर्मी दुःशासन आदि युद्ध के मैदान में अपनी आहुति दे स्वर्ग जा चुके थे। लाखोंलाख प्राण लाभजनित बैर की अग्नि में आहूत हो चुके थे। पांचाल वीर, पाँचों पाण्डव, दुर्योधन, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा बचे थे।

अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ने घायल पड़े मृत्यु की प्रतीक्षारत दुर्योधन से मिल रात्रि में ही पाण्डव पक्ष के शेष वीरों को समाप्त करने की योजना बनाई। रात्रि के घोर अन्धकार में युद्ध से थके होने

के कारण अपने-अपने शिविरों में विश्राम कर रहे पाण्डव और उनके पक्ष के वीरों, जिनमें पांचाल वीर धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदी के पाँचों पुत्र थे, की अश्वत्थामा ने एक-एक कर अलग अलग हत्या कर दी।

इन मृत्यु प्राप्त महायोद्धाओं में शिखण्डी भी एक था। शिखण्डी जाग पड़ा और अश्वत्थामा ने शिखण्डी की भृकुटी का बाण से भेदन कर हत्या की।

यह उस गाथा का अन्त था जो तीन जन्मों से बैर बाँधे चल रही थी–अपमान का घूँट पी रही थी। अपनी प्रीत को खोकर जन्मों तक बेचैन बनी रही। उसकी यह इच्छा भी पूरी नहीं हो पाई कि युद्ध में युद्ध करते हुए मरकर स्वर्ग जाती, और हत्या में अपने जीवन का अन्त करा सकी। पुनर्जन्म हुआ होगा जो अज्ञात के पल्लू में कहीं छिपा है। बाट जोह रही होगी कि शाल्व मिले। सब इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं।

गान्धारी

आर्यावर्त के उत्तर-पश्चिम में गान्धार नाम का एक स्वतंत्र राष्ट्र था (जिसे आजकल अफगानिस्तान कहा जाता है)। गान्धार के नरेश सुबल नाम के थे। उनके एक कन्या और दो पुत्र थे। कन्या का नाम गान्धारी और पुत्रों के नाम शकुनि और वृषभ थे। गान्धारी सुन्दरी तो थी साथ-साथ विदुषी भी अद्वितीय थी।

जब वह विवाह योग्य हुई तो भारत खण्ड और अन्य राजाओं ने उससे विवाह की इच्छा प्रकट नहीं की। राजा सुबल रात-दिन चिन्तित रहने लगे। इसी बीच कौरव कुल के संरक्षक भीष्म का अपने पौत्र धृतराष्ट्र का गान्धारी के साथ विवाह का प्रस्ताव आया। धृतराष्ट्र काफी बलवान थे, उनके बलिष्ठ होने की चर्चा चारों ओर फैली हुई थी, हस्तिनापुर का नाम था। किन्तु उनमें एक दोष था कि वे प्रज्ञाचक्षु (जन्मान्ध) थे। राजा सुबल बड़े पशोपेश में पड़ गये।

स्वयंवर के लिए अनेक राजाओं की उपस्थिति होना चाहिए जो गान्धारी के लिए संभवतः दुर्गम स्थान का राज्य होने के कारण नहीं बन पाई हो। और भीष्म के प्रस्ताव के प्रति उदासीन होना या न करने का अर्थ था कि उनका अनादर करना। भीष्म को अपने मान-अपमान का बड़ा ध्यान रहता था। दूसरे भीष्म का पुराना इतिहास सब दूर फैल गया था, जिनने काशीराज की तीन कन्याओं का अपहरण किया और स्वयं ब्रह्मचारी रहने की अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे।

महाराज सुबल की चिन्ता से गान्धारी की परेशानी बढ़ गई। बहुत सोच-विचारकर गान्धारी ने अपनी माँ के समक्ष अपनी बात रखी–

"माँ! पिताजी को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। वे पितामह भीष्म के प्रस्ताव को स्वीकार कर सकते हैं।"

गान्धारी ने तत्काल से आँखों पर पट्टी बाँधना आरंभ कर दिया!

भीष्म आये और गान्धारी को हस्तिनापुर लिवा लाये। धृतराष्ट्र के साथ विवाह सम्पन्न हो गया। धृतराष्ट्र के छोटे भाई पाण्डु का स्वयंवर में यदुवंशी सामंत वसुदेवजी के भाई शूरसेन की पुत्री कुन्ती ने वरण किया। शूरसेन ने कुन्ती को अपनी बुआ के सन्तानहीन लड़के कुन्तलपुर के राजा कुन्तीभोज को गोद दे दिया था। कुन्ती अत्यन्त लावण्यमयी, सात्विक और गुणवती थी। राजगद्दी पर पाण्डु को बिठाया गया था क्योंकि धृतराष्ट्र अन्धे थे। गान्धारी राजरानी बनने से वंचित रही। इस अप्रत्याशित व्यवस्था ने गान्धारी के मन में कुण्ठा को जन्म दे दिया था।

इसी के साथ वह कुन्ती से पहले बड़ी होने के बाद भी माँ नहीं बन पाई थी, कुन्ती ने युधिष्ठिर को पहले जन्म दे दिया था। दुर्योधन को गान्धारी ने बाद में जन्म दिया। दुर्योधन और कुन्ती के दूसरे पुत्र भीमसेन का जन्म एक समय में हुआ। भीमसेन दुर्योधन से अधिक बलवान था।

कुन्ती के तीन पुत्र, माद्री के दो पुत्र और गान्धारी के सौ पुत्र थे। साथ-साथ गुरु द्रोणाचार्य के पास शिक्षा-दीक्षा पाने लगे। इनकी शिक्षा-दीक्षा के निरीक्षण का दायित्व पितामह भीष्म के ऊपर था, क्योंकि पाण्डु का देहावसान हो चुका था और धृतराष्ट्र अन्धे थे!

गान्धारी को एक और बात अखरती थी कि उसके पुत्र दुर्योधन को युवराज होने के बजाय ज्येष्ठ होने के कारण युधिष्ठिर को युवराज बनाया गया। धृतराष्ट्र को ज्येष्ठ होने के बाद भी राजसिंहासन पर नाम-मात्र के लिए बिठाया जाता रहा और पाण्डु के राजकाज देखते रहने के कारण भीष्म ने लोकप्रियता को देखते हुए युधिष्ठिर को युवराज घोषित किया था।

कुन्ती के पुत्र हर बात में बढ़-चढ़ के थे–गान्धारी के लिए यह कष्टदायक था।

दुर्योधन व उसके अनुज दुःशासन का चरित्र इतना गिरा हुआ था कि उनके काका महात्मा विदुर ने तो भ्राता धृतराष्ट्र और भाभी गान्धारी को सलाह दे डाली थी–"दुर्योधन को त्यागने में ही भलाई है..." किन्तु प्रबल पुत्रमोह के कारण ऐसा नहीं हो पाया। विदुरजी ने तो नीतिगत बात भी कही, "यदि आप अपने कुल का कल्याण चाहते हैं तो अनेक

में एक-दो कम ही सही—ऐसा समझकर त्याग दीजिये और अपने कुल तथा जगत का मंगल भी कीजिये। शास्त्र स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि कुल के लिए एक मनुष्य का, ग्राम के लिए एक कुल का, देश के लिए एक ग्राम का और आत्म-कल्याण के लिए सारी पृथ्वी का भी त्याग कर दे।''

कपटपूर्वक दुर्योधन ने अपने मामा शकुनि से सलाह कर पाँचों पाण्डव भाइयों सहित अपनी चाची कुन्ती को वारणावत भेजा जहाँ लाक्षागृह था और वहाँ आग लगवाई। चाचा विदुर की युक्ति के कारण उस आग में वे जलने से बच गये और छिपते-छिपाते वन-वन भटके। इनके मरने का समाचार ही नहीं फैला बल्कि इनकी उत्तरक्रिया भी करवा दी गई। पिता धृतराष्ट्र और माता गान्धारी इससे अनभिज्ञ थे—ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी बीच समाचार आया कि पांचाल देश के राजा द्रुपद ने अपनी पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर का आयोजन किया है। गान्धारी ने दुर्योधन को वहाँ जाने के लिए प्रेरित किया, ''बेटा! तुम जा तो रहे हो किन्तु वह स्वयंवर अच्छे धनुर्धर होने की कसौटी है।''

''माँ हम बलपूर्वक अपहरण कर लावेंगे।'' माँ ने विरोध नहीं किया।

क्षत्रियों में बलपूर्वक कन्या अपहरण की प्रथा समाप्त नहीं हुई थी। स्वयंवर में पाण्डव ब्राह्मण रूप में थे, जब कोई क्षत्रिय राजकुमार और राजा मत्स्य-भेदन नहीं कर सके और कर्ण को सूतपुत्र मान धनुष उठाने नहीं दिया गया तब ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन ने मत्स्य-भेदन किया और द्रौपदी ने जयमाला ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन के गले में डाली। कौरवों की अर्जुन व भीम के सामने नहीं चली।

कुन्ती द्रौपदी सहित पाण्डवों के साथ हस्तिनापुर आ गई! कौरवों और पाण्डवों की बढ़ती शत्रुता को मिटाने का मार्ग निकाला गया कि पाण्डवों को आधा राज्य दिया जाय। नया नगर इन्द्रप्रस्थ बसाया गया। राज्य विस्तार के लोभ ने कौरवों को शान्त नहीं रहने दिया। शकुनि, कर्ण (कुन्ती का कौमार्य अवस्था का पुत्र), दुःशासन व दुर्योधन ने मिलकर द्यूत-क्रीड़ा की योजना बनाई। युधिष्ठिर की द्यूत-क्रीड़ा में रुचि उनकी एक कमजोरी थी। इसका लाभ उठाया गया। सभा हुई, शकुनि एक शौकिया नहीं वरन् मँजा हुआ जुआ का खिलाड़ी था। युधिष्ठिर सब-कुछ

तो हारे ही, दाव पर अपने भाइयों, स्वयं को और द्रौपदी तक को हार गये।

जब यह समाचार रनिवास में पहुँचा तो खलबली मच गई, द्रौपदी को सभा के बीच लाया गया। भारतीय इतिहास में काला पन्ना जुड़ गया। गान्धारी की एक नहीं चली, धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य ने अपने-अपने दुख और विनाश के ताने-बाने बुन लिए। पाण्डव वन गये। शर्त अनुसार एक वर्ष अज्ञातवास में रहे। कुन्ती ने अपने देवर विदुर के घर रहना पसन्द किया। इस सबमें गान्धारी अपने को दोषमुक्त नहीं मान सकती थी कि उसने दुर्योधन को सब-कुछ करने दिया! कौरव कुल की महिलाओं ने अपनी सास गान्धारी को कोसने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

"माताजी! आपने यह क्या अन्याय होने दिया!..."

गान्धारी ने कहा—"मैं लाचार बन अपने पति के संकेतों पर चली।"

"पिताश्री को परिस्थिति टालने के लिए तो कहतीं!"

"अरे! हठी दुर्योधन पर तो बदले का राक्षस सवार है। उसने श्रीकृष्ण की भी बात नहीं मानी, उनका दैवी रूप देखकर भी डरा नहीं, अब जो होगा?"

पाण्डव हठी नहीं थे, बुद्धिमान थे, यदुवंश-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण उनके संरक्षक थे। वे अपने वनप्रवास में शक्ति संचय करते हुए परस्पर विचार किया करते। उनमें भीम तनिक अधीर होते तो युधिष्ठिर समझाया करते—

"भैया भीम! किसान बीज बोकर पकने तक उसके फल की आशा लगाये बैठा रहता है, वैसे ही तुम्हें भी अपनी उन्नति के समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए, समय आये बिना कुछ नहीं होगा। भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य भी तटस्थ नहीं रह पायेंगे। वे कौरवों के लिए कौरवों के द्वारा प्रदत्त अन्न खाने के कारण उनकी ओर से प्राणपण से लड़ेंगे। इस अभेद्य स्थिति को जीते बिना तुम दुर्योधन को नहीं मार सकते।"

कौरवों के गुप्तचरों के द्वारा पाण्डवों की गतिविधि बराबर धृतराष्ट्र के पास पहुँचती रहती, धृतराष्ट्र एकान्त में गान्धारी को बताया करते, इस प्रकार वे पाण्डवों के प्रति आशंकित थे।

वनवास पूरा कर पाण्डवों ने अपने पक्ष के राजाओं का संगठन

बना श्रीकृष्ण के आश्रय में युद्ध की पूरी तैयारी कर ली। फिर भी शान्ति के अन्तिम उपाय के लिए श्रीकृष्ण को दूत बनाकर धृतराष्ट्र के पास भेजा।

श्रीकृष्ण दूत बनकर कौरव सभा में गये। दुर्योधन ने जब श्रीकृष्ण के तर्कयुक्त वचनों को स्वीकार नहीं किया तो धृतराष्ट्र ने राजसभा में गान्धारी को बुलवाया और दुर्योधन को समझाने के लिए कहा।

गान्धारी ने भरी सभा में दुर्योधन से कहा–"बेटा दुर्योधन, तुमसे तुम्हारे पिता, पितामह, आचार्य द्रोण, कुलगुरु कृपाचार्य और चाचा विदुर ने जो न्यायसंगत बात कही वह मान लो, इससे तुम्हारे द्वारा अपने हितैषियों की बड़ी सेवा होगी।"

"छोड़ो माँ! आप कहाँ हम शत्रु-भाइयों के चक्कर में पड़ी हो।"

गान्धारी ने कहा–"राज्य को पाना, बचाना और भोगना अपने बस की बात नहीं है। जो पुरुष जितेन्द्रिय होता है वही राज्य की रक्षा कर सकता है।"

"मैंने कह दिया न माँ, मैं पाण्डवों को एक इन्च भूमि भी नहीं दे सकता! क्यों अपना समय नष्ट करती हो!"

गान्धारी तमतमा गई और बोली, "अरे मूर्ख, जिस प्रकार उद्दण्ड घोड़े मूर्ख सारथी को मार सकते हैं उसी प्रकार यदि इन्द्रियों को वश में न रखा जाय तो मनुष्य का नाश करने के लिए वे पर्याप्त हैं।" दुर्योधन ने संकेत में कह दिया कि यह संभव नहीं।

गान्धारी ने एक मातृ हृदय की व्यथा व्यक्त करते हुए कहा–"लगता है युद्ध टलेगा नहीं। युद्ध में कल्याण नहीं है, उसमें धर्म और अर्थ ही नहीं है तो सुख कहाँ से होगा। युद्ध हिंसा का ज्वलन्त मूर्तरूप है, इस हिंसा से प्रतिहिंसा, प्रतिहिंसा से फिर हिंसा, अनन्य बन चलती रहती है और युद्ध में विजय मिल ही जायगी ऐसा कहा नहीं जा सकता, सब विधाता के हाथ में है।"

"हे पुत्र! संसार में लोभ करने से किसी को सम्पत्ति नहीं मिलती। तुम लोभ छोड़ पाण्डवों से सन्धि कर लो।"

दुर्योधन ने ध्यान नहीं दिया और सभा छोड़कर चला गया। मंत्रियों के साथ दुरभि सन्धि में लग गया!

और गान्धारी को अठारह ही दिनों में बड़ी तपस्या से प्राप्त अपने पुत्रों का हनन होते सुनना पड़ा।

संजय को वेदव्यास ने धृतराष्ट्र को युद्ध समाचार सुनाते जाने के लिए दिव्य दृष्टि दी थी जिसके द्वारा प्रतिदिन वे समाचार सुनाया करते थे। गान्धारी भी सुनती थी। दोनों पाण्डवों और कौरवों के महारथी कुरुक्षेत्र के मैदान में अपनों से ही परस्पर लड़ने को एकत्रित हुए थे।

महाबली दुःशासन बड़ी क्रूरतापूर्वक भीमसेन द्वारा मारा गया। समाचार सुनकर गान्धारी मूर्च्छित हो गई। और जब कर्ण के हत होने के समाचार संजय ने कहे तब तो विजय की रही-सही आस भी चली गई और इस अप्रिय समाचार से धृतराष्ट्र मूर्च्छित हो गये और विलाप करती गान्धारी पछाड़ खाकर गिर पड़ी। उनको संजय और विदुरजी ने सँभाला। सभी भवितव्यता और विधि का विधान मान चुपचाप बैठे रह गये!

फिर भी दुर्योधन को मोहाच्छादित हो गान्धारी ने अपने पास निर्वस्त्र हो आने के लिए अत्यन्त विश्वसनीय दूत द्वारा बुलाया। दुर्योधन शीघ्रतापूर्वक माँ की दृष्टि पा वज्रदेह होने के लोभ में भागा-भागा चला, मार्ग में श्रीकृष्ण, जो पूरे युद्ध में चैतन्य थे, मिल गये और मर्यादा की शिक्षा दे अपने गुप्तांगों पर केले के पत्ते लपेटकर जाने को कहा। दुर्योधन ने वैसा ही किया।

दीर्घ दृष्टि वाली गान्धारी दुर्योधन को देखते ही बोली—"क्या मार्ग में कृष्ण मिल गये थे? अभागे दुर्योधन! सब-कुछ समाप्त हो गया।" अपना सिर पीट लिया।

18 दिन चला महायुद्ध समाप्त हो चुका था, कौरव कुल की कुलवधुओं, सैनिकों की पत्नियाँ, पाण्डव पक्ष के वीरों की वीर पत्नियाँ, युद्धभूमि में अपने-अपने पतियों, पुत्रों, भाइयों के शवों को खोजती हुई कुकरियों की भाँति विलाप करती हुई अपने करुण रुदन से वातावरण को अत्यन्त शोकमय बनाये हुए थीं।

ऐसे में श्रीकृष्ण सांत्वना के कुछ शब्द कहते कि गान्धारी ने आरोपों की झड़ी लगा दी और भयंकर शाप दे डाला—"माधव! तुमने कौरव और पाण्डव दोनों भाइयों के आपस में प्रहार करते समय उपेक्षा कर दी थी।

जिस प्रकार भरतवंश की स्त्रियाँ विलाप कर रही हैं, उसी प्रकार तुम्हारे कुटुम्ब की स्त्रियाँ भी अपने बंधुबांधवों के मारे जाने पर सिर पकड़कर रोयेंगी।''

श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा, ''देवी! आपने वही शाप दिया जो कुछ होना है।'' श्रीकृष्ण को न तो पाण्डव ही समझ पाये और न ही गान्धारी सहित कौरव!

श्राद्ध कर्म, दान आदि से निवृत्त हो पितर ऋण से मुक्त हो धृतराष्ट्र ने गान्धारी, कुन्ती, विदुर सहित तपस्या करने के लिए वन गमन किया। वन में तपस्या करके राजरानी गान्धारी ने अपने पति धृतराष्ट्र, देवरानी कुन्ती सहित अपनी देह को दावाग्नि में विसर्जिन कर दिया।

कुन्ती

वह जब अपने जीवन के पन्द्रह वसन्त पार कर चुकी तब उसे पता चला कि वह राजकुमारी कुन्ती नहीं है, वह सामंत शूरसेन की पुत्री है जिसे पहली मुस्कराहट के साथ शूरसेन ने अपने प्रिय मित्र राजा कुन्तीभोज को दत्तक रूप में दे दिया था। जानकारी की यह नौबत शायद नहीं आती यदि राजा कुन्तीभोज के दरबार में तेजस्वी ब्राह्मण नहीं आये होते। ब्राह्मणों का सत्कार करना राजा अपना परम धर्म मानते थे। उनकी देवतुल्य पूजा व सेवा-सुश्रूषा आदि हुआ करती थी।

उन ब्राह्मण देवता दुर्वासा की देखभाल करने का दायित्व किशोरी कुन्ती पर डाला गया। उसने बड़ी तन्मयता के साथ सेवा की। ब्राह्मण की प्रत्येक आवश्यकता का पूरा ध्यान रखती और उन्हें पूर्ण निष्ठा के साथ पूरा करती। एक वर्ष की अवधि बीत गई। वेदपाठी विप्र ने अथर्ववेद के एक मंत्र की दीक्षा दी कि जिससे जिस देवता का वह आह्वान करे तो वह देव उसके आधीन हो उसकी इच्छा पूर्ति करेगा।

किशोर मन जिज्ञासाओं का अक्षय भण्डार होता है। एकान्तिक क्षण में कुन्ती जिसे पृथा के नाम से भी पुकारा जाता था, ने विधिविधानपूर्वक सूर्यदेव का आह्वान कर लिया। और वह कुमारी गर्भधारण करने के लिए लाचार हो गई। एक कुमारी का गर्भवती होना लोकलज्जा व अपयश का बड़ा कारण था। अपनी धाय की सहायता से कुन्ती ने यह छिपाया और पुत्र होने पर उस तेजस्वी नवजात शिशु को पिटारी में सुरक्षित रखकर करुण रुदन करते हुए अश्वनदी में बहा दिया। अपनी धाय के साथ अत्यन्त गोपनीय तरीके से राजमहल लौट आई। (शिशु की पिटारी बहती हुई चम्बल, यमुना में होती हुई गंगा तट पर आ लगी जिसे सूत अधिरथ व उसकी पत्नी राधा ने निकाल पालन-पोषण किया, तब वह दम्पति निःसन्तान थे।)

पृथा का कौमार्य घोषित था, वह लावण्यमयी अत्यन्त सुन्दर थी। कई राजाओं ने अपने राजकुमारों के लिए उसकी याचना की थी। अतः राजा कुन्तीभोज ने स्वयंवर रचा। स्वयंवर में कुन्ती का हस्तिनापुर के कुरुवंशी राजकुमार पाण्डु ने वरण किया। तत्कालीन प्रथा के फलस्वरूप पाण्डु का एक और विवाह माद्रदेश की राजकुमारी से किया गया।

अतिशय भोग रोग का जनक होता है। राजा पाण्डु पाण्डुरोग (पीलिया) से पीड़ित रहने लगे। इस रोग का सही उपचार नैसर्गिक अधिक कारगर मानकर पाण्डु कुन्ती और माद्री के साथ वन में जा बसे। ऋषि-मुनियों का परामर्श और सहयोग उन्हें मिलने लगा। दम्पति बिना सन्तान के अपने को अधूरा मानते हैं, इस अधूरेपन पर तीनों विचार-विमर्श किया करते किन्तु पाण्डु की लाचारी थी फिर भी काम पर विजय नहीं पा सके।

एक वर्ष के अन्तराल से कुन्ती ने तीन पुत्रों को जन्म दिया। पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर थे जिन्हें धर्म का अंश माना जाता था। वे एक सत्यवादी के रूप में प्रतिष्ठित हुए। भीम दूसरे पुत्र थे जिनका बल लोक प्रसिद्ध था। तीसरे पुत्र अर्जुन श्रेष्ठ धनुर्धारियों में गिने जाते थे और माद्री से जो पुत्र हुए उन्हें अश्विनीकुमार का अंश माना जाता था। पवनदेव और इन्द्रदेव की कृपा से क्रमशः भीम और अर्जुन को कुन्ती ने पुत्र रूप में पाया था।

सिद्ध हो गया कि काम उनका शत्रु था। कांमुक पाण्डु की इहलीला समाप्त हो गई और कुन्ती को वैधव्य का स्वागत करना पड़ा। माद्री ने पाण्डु के साथ जीवन की आहुति दे डाली। विधवा कुन्ती वनवास को तिलांजलि दे अपने पाँचों पाण्डुपुत्रों को ले जेठ धृतराष्ट्र और पितामह देवव्रत के संरक्षण में हस्तिनापुर लौट आई। राजकुमारों की भाँति धृतराष्ट्र के अन्य पुत्रों के साथ पाँचों पाण्डुपुत्र (पाण्डव) शिक्षा-दीक्षा पाने लगे। यहाँ से कुन्ती का नया पारिवारिक जीवन आरंभ हुआ। कुन्ती परिवारजन्य ईर्ष्या-द्वेष तथा प्रतियोगिता के बीच अपने पुत्रों के साथ भेदभाव देखती तो मन ही मन समय की बलिहारी जान भाग्य को कोस रो पड़ती, कभी-कभी अपने मन की वेदना अपने साधु देवर विदुर के सामने दबी ज़बान में रख मन को हल्का कर लेती थी।

विदुर साधु स्वभाव के भक्त थे। कुन्ती पर उनका रंग चढ़ने लगा था। वह भी अधिक से अधिक समय ईश्वराधना में बिताने लगी। पुत्र द्रोणाचार्य के गुरुकुल में शिक्षा पा रहे थे।

शिक्षा पूरी होने पर परीक्षा हेतु शस्त्र परीक्षण और प्रतियोगिता रखी गई। इसी बीच युधिष्ठिर को आयु में सबसे बड़े होने के कारण युवराज घोषित कर दिया गया। दुर्योधन धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों में ज्येष्ठ था। वह पाण्डवों से ईर्ष्या-द्वेष में हमेशा जला करता था। उसका भीम से विशेष वैमनस्य था, कुन्ती इस बात को भलीभाँति जानती थी।

अपनी जेठानी गान्धारी से विचार-विमर्श कर राजा धृतराष्ट्र को यह समझाने की कोशिश की कि द्विपक्षीय राजकुमारों को दूर-दूर कर दिया जाय। अतः कुटिल राजनीति के खिलाड़ी गान्धारी के भाई शकुनि, जो प्रायः हस्तिनापुर में ही रहते थे, ने सलाह दी कि एक नया नगर वारणावत बसाया गया है वहाँ कुन्ती सहित पाण्डव जावें। धृतराष्ट्र ने आज्ञा दे दी। घटनाक्रम में विदुर ने कुछ छल का अनुमान लगाया और युक्ति से कुन्ती को समझा दिया कि वारणावत में ज्वलनशील पदार्थों से नया राजप्रासाद बनाया गया है–"भाभी! ऊपर कितनी ही आग लगी हो चूहा अपने बिल से सुरक्षित बाहर निकल आता है और वन में हिंसक प्राणियों से बचता-बचाता अपना नया आशियाना बना लेता है।"

कुन्ती चतुर थी! अपने पाँचों पुत्रों के साथ निकल भागी। छिपती-छुपाती ब्राह्मणी तथा पाँचों भाई ब्राह्मण भेष में भटकते-भटकते द्रुपद नरेश के राज्य पांचाल देश में भिक्षावृत्ति के साथ रहने लगे। यह कुन्ती के धैर्य का अद्भुत कार्य था। समय के अनुकूल होने की प्रतीक्षा करते हुए अपने पुरुषार्थ को करते रहने के अलावा कोई चारा नहीं। जबकि हस्तिनापुर में छहों की अन्त्येष्टि क्रिया कर दी गई थी क्योंकि संयोग से उस भवन में ठहरे एक भील परिवार के छह सदस्य अचिह्नित अवस्था में मृत पाये गये थे।

विदुर कुन्ती के सब समाचार पता लगा लिया करते थे। पांचाल देश में राजा द्रुपद की विदुषी पुत्री के लिए स्वयंवर का विशाल कार्य चल रहा था, कई राज्यों के राजा भाग लेने आये थे। इनमें दुर्योधन,

कर्ण, शाल्व आदि भी थे। किन्तु धनुर्विद्या में निपुणता जो कुन्ती के तीसरे पुत्र अर्जुन में थी वह किसी अन्य में नहीं थी, कर्ण अवश्य निपुण था। उस स्वयंवर सभा में श्रीकृष्ण और बलराम भी आये थे!

नित्य की भाँति पाँचों भाइयों में भीम व अर्जुन ने झोंपड़ी के बाहर से पुकारकर कहा–"माँ आज हम विचित्र भिक्षा लाये हैं।" कुन्ती ने बिना देखे भीतर से ही उत्तर दिया, "पाँचों भाई इसका उपयोग कर लो।"

किन्तु जब कुन्ती को पता चला कि वह भिक्षा एक सुन्दर कमनीया युवती द्रौपदी थी तो वह बड़े पशोपेश में पड़ गई कि उसके पुत्र उसके वचन का पालन बिना किसी तर्क के करते थे। यह क्या हो गया? विचार-मन्थन चल ही रहा था कि श्रीकृष्ण बलराम के साथ आये।

वह झोंपड़ी एक कुम्हार की थी, श्रीकृष्ण व बलराम ने प्रणाम करके कहा, "अरे भुआ! बड़े संकट के साथ आप अपने दिन काट रही हैं?"

"अरे कान्हा! तुमने भी खबर नहीं ली!" श्रीकृष्ण कुछ कहते बलरामजी ने कहा–"ओ भुआ तुम्हारे कान्हा को लोक प्रपंच से फुरसत मिले तब तो वे अपनों की कुशलक्षेम लें।"

द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न भी आ चुके थे। सब बड़ी दुविधापूर्ण स्थिति में थे किन्तु श्रीकृष्ण का मस्तिष्क किसी गंभीर चिन्ता में डूबा हुआ था। वे बोले, "पांचाल नरेश द्रुपद से विचार विनिमय के पश्चात् ही किसी निर्णय पर पहुँचना ठीक होगा।"

श्रीकृष्ण, राजा द्रुपद, पाँचों भाई, धृष्टद्युम्न, द्रौपदी और कुन्ती की अत्यन्त गोपनीय बैठक हुई। श्रीकृष्ण ने व्यवस्था दी कि "राजा द्रुपद अपनी अन्य कन्याओं को पाण्डवों को दान करें। यह दान आने वाले चौदह वर्षों पर गोपनीय ही रहेगा, इतना गोपनीय कि केवल वायु को ही ज्ञात हो। यह इसलिए कि शत्रु पक्ष प्रबल है। युवराज युधिष्ठिर को अपना पद पुनः सम्मानपूर्वक पाना है। इसमें मैं भयंकर विनाश देख रहा हूँ।" श्रीकृष्ण की रहस्यमयी वाणी को कुन्ती के अलावा कोई भी समझने में असमर्थ था।

राजा द्रुपद ने प्रतिउत्तर दिया, "केशव! यह गर्व है कि पाण्डव जैसे योग्य दामाद मुझे कहाँ मिलेंगे, लेकिन मैं अपनी पुत्रियों को कैसे

जतन सें रख सकूँगा?"

"राजन! भविष्य के विषय में मैं इतना ही कह सकता हूँ कि युवराज युधिष्ठिर के पदासीन में कृष्णा (द्रौपदी) ही निमित्त है। इस सत्य की आप गोपनीय तरीके से तैयारी रखें।"

द्रौपदी, पाँचों भाई और कुन्ती विदुर के साथ हस्तिनापुर आये। श्रीकृष्ण, बलराम द्वारिका आ गये। शेष चारों वधुएँ—भौमया, मणिका, सुललिता और सुरम्या अपने पिता द्रुपद के यहाँ ही रहीं।

हस्तिनापुर में गान्धारी ने धृतराष्ट्र के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि "दुर्योधन किसी भी कीमत पर युधिष्ठिर को स्वीकार नहीं करेगा। उसका भी युवराज बने रहने का अधिकार है।"

भीष्म पितामह, विदुर, द्रोण आदि की गोपनीय बैठक में निश्चित हुआ कि हस्तिनापुर राज्य का विभाजन कर दिया जाय! विभाजित राज्यों की राजधानियाँ बनाई गईं। एक हस्तिनापुर और दूसरी इन्द्रप्रस्थ!

चूँकि पाण्डवों का लालन-पालन वनों में गरीबी के बीच हुआ था, वे अत्यन्त संघर्षशील और योग्य थे, उन्होंने इन्द्रप्रस्थ का स्वरूप स्वर्ग की राजधानी इन्द्रपुरी के मानिन्द कर दिया। अपने शौर्य के बल पर आसपास के क्षेत्र पर उनका वर्चस्व सीमित हो गया। कुन्ती राजमाता का सुख भोगने लगी। गान्धारी ने दृष्टिहीन पति के कारण आँखों पर पट्टी बाँध रखी थी—इस स्थिति ने गान्धारी के पुत्रों को कुमार्गी बना दिया। पाण्डवों से उनकी ईर्ष्या दिन पर दिन बढ़ने लगी, कुन्ती इस तथ्य से भिज्ञ थी। अपने साधु देवर विदुर से उसकी पटती थी, एक दिन वह विदुर से बोली—"देवरजी, कृष्ण कुछ रहस्यमयी बातें द्रुपदपुरी में कह गये थे। उसका समय आ रहा है ऐसा लगता है। और मैं भाइयों के साथ भटक नहीं सकती, उन्हें कई निर्णय लेने हैं।"

"भाभी आपके लिए मेरी कुटिया के द्वार हमेशा खुले हैं। मैं जानता हूँ राजप्रासाद (हस्तिनापुर) के घुटनपूर्ण वातावरण में आप जी नहीं सकेंगी—भ्राता धृतराष्ट्र और भाभी गान्धारी मोह और लोभ से ग्रसित हो अनुचित-उचित में भेद नहीं कर पा रहे हैं।"

एक बड़ी घटना घटी जिसने कुन्ती को छार-छार कर दिया—धर्मराज कहलाने वाला ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर जुआरी बन गया! जुए में वह न

केवल राज्य खो बैठा बल्कि द्रौपदी को भी हार बैठा जो कथित रूप में भार्या थी! हार की शर्त के अनुसार तेरह वर्ष का वनवास भोगना था! श्रीकृष्ण ने आकर द्रौपदी की लाज रखी–एकान्त में श्रीकृष्ण ने भुआ कुन्ती के सम्मुख द्रौपदी से कहा–"कृष्णा अब तुम्हें संघर्ष की सम्पूर्ण व्यूह रचना न केवल करनी है वरन व्यवहार में लाकर अर्जुन सहित अन्य भाइयों को स्थापित करना है। वनवास का उपयोग शक्ति संचय तथा अनुकूल वातावरण बनाना है। मैं यहीं कहीं मिलता रहूँगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं किन्तु एक चतुर विदुषी और राजनीति को समझने वाली नारी हो। तुममें ओज है, ऊर्जा है। भुआ कुन्ती अवस्था प्रमाण से थक चुकी हैं। अब पाण्डव नैया की पतवार तुम्हारे हाथ है।"

कुन्ती ने बीच में टोककर बोला, "कान्हा! द्रौपदी को नैया सौंपकर तुम क्या मुक्त हो रहे हो?"

"नहीं भुआ! आखिर नैया खेना तो इनको ही है। मैं डूबने नहीं दूँगा बस।"

कुन्ती आश्वस्त हुई। एकान्त में कृष्ण अपनी भुआ को ले गये–"भुआ! आपको मैं झकझोरना चाहता हूँ।" कुन्ती विस्मित थी।

"आपके छह पुत्र हैं।" कृष्ण बोले।

"केशव तुम्हें कैसे पता?"

"भुआ, जग नहीं जानता, पाँचों भाई नहीं जानते, द्रौपदी नहीं जानती, भैया बलराम नहीं जानते, मैं जानता हूँ। मैंने इस विषय में कर्ण से बात की है।"

"कर्ण!" कुन्ती चौंक गई, उसकी आँखों के सामने सारा भूत घूम गया!

"भुआ! घबराइये नहीं! कर्ण सत्यवादी है। उसने मुझे यह सत्य गुप्त रखने का वचन दिया है और लिया है! असत्य के साथ वह पछतावे में है, लेकिन उसकी सत्यवादिता, विश्वसनीयता दुर्योधन के प्रति निष्ठा की लाचारी है।"

कुन्ती–"तो क्या केशव मुझे खोना पड़ेगा?"

"भुआ! कौन क्या खोयेगा और कौन क्या पायेगा इसे भविष्य के गर्त में ही छुपा रहने दो–इसी में सबका हित है।" और कुन्ती को विदुर

के घर में छोड़ अपनी द्वारिका चले आये।

दोनों पक्ष पाण्डव और कौरव अपनी-अपनी शक्ति संचय कर कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध के लिए तत्पर हुए। दोनों पक्षों में सब परस्पर अपने थे। अपनों से अपनों का लड़ना बहुत कठिन था। युद्ध-कौशल में एक से बढ़कर एक थे। एक-दूसरे की बराबरी के थे। युद्ध आरंभ होने को था। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ का सारथत्व स्वीकार किया था। उनके उपदेश अर्जुन में चेतना जाग्रत कर रहे थे।

युद्ध आरंभ होने के पूर्व एक दिन श्रीकृष्ण ने कुन्ती से कहा, "भुआ! कर्ण से मिलने जाओ! उसे आशीर्वाद दो और अपने पुत्रों का जीवन माँगो।"

माँ-बेटे का दीर्घ अवधि के बाद कर्ण की चेतन अवस्था में प्रथम मिलन था।

गंगास्नान के उपरान्त सूर्य को अर्घ्य दे कर्ण जैसे ही मुड़ा, कुन्ती दिखाई दी।

कर्ण बोले—"युधिष्ठिर की मातेश्री मैं अधिरथ-पुत्र आपको प्रणाम करता हूँ, मेरी माता का नाम राधा है, कहिये आप कैसे पधारीं? मैं क्या सेवा करूँ?"

कुन्ती ने कहा, "तुम राधापुत्र नहीं! मेरे पुत्र हो—युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन तुम्हारे सहोदर भ्राता हैं। मैंने चूँकि कौमार्य अवस्था में तुम्हें जन्म दिया था, लोकलज्जा के भय से त्याग दिया था।"

कर्ण ने सूर्यदेव की ओर देखा। उसे लगा कि जो माता कुन्ती कह रही हैं उसका वे अनुमोदन कर रहे हैं।

किन्तु कर्ण ने कुन्ती का यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया कि वह अब अपने को पाण्डवों का अग्रज घोषित कर दे! यदि ऐसा होता तो शायद युद्ध ही नहीं होता क्योंकि कर्ण की सामर्थ्य पर ही दुर्योधन युद्ध के लिए उन्मत्त था।

फिर भी कुन्ती के बहुत कहने-सुनने पर युद्ध में अर्जुन को छोड़ अन्य भाइयों को ना मारने का वचन दे दिया! कर्ण को माँ ने पहली बार गले लगाया, कुन्ती के जीवन की सबसे बड़ी रोमांचक घड़ी थी! कहा, "कर्ण! विधाता बड़ा बलवान है। जैसा तुम कहते हो कि तुम मारे

गये तो पाँच रहेंगे ही और अर्जुन मारा गया तो तुम सहित मेरे पाँच पुत्र रहेंगे! यह गति होनी है तो कोई कैसे टाले। केशव भी नहीं।"

कुन्ती अनमने भाव से अपने आवास पर लौट आई! काश कौमार्य अवस्था में संयम से काम लिया होता तो यह दुर्दिन न देखना पड़ते। यह भाव बार-बार मन में उठ रहे थे किन्तु क्या किया जा सकता था, तीर धनुष से वर्षों पूर्व छूट चुका था! पुत्र पुत्र होता है चाहे वह कौमार्य अवस्था का हो या वैवाहिक जीवन का! माँ का हृदय क्रन्दन करने लगा था, किससे मन की वेदना कहती! केशव-कृष्ण को याद कर मन के भार को हल्का किये जा रही थी क्योंकि इस कर्ण जन्म का रहस्य उनके अलावा अन्य किसी को ज्ञात नहीं था।

हठी दुर्योधन के सामने सबकी युक्तियाँ और सोच कोई अर्थ नहीं रखते थे और उस पर दृष्टिहीन राजा धृतराष्ट्र का राज्यलोभ पुत्रेष्णा को बराबर बढ़ावा देता जा रहा था। हिंसा का महाताण्डव भारतीय इतिहास का एक बड़ा काला पृष्ठ बन गया जिसकी एक पात्र कुन्ती भी थी। उसने युद्ध प्रारंभ होने के पूर्व कृष्ण के द्वारा पाँचों पाण्डव भाइयों के पास यह सन्देश पहुँचाया था–"क्षत्राणी के दूध की लाज योद्धा रखते हैं। शत्रु को कभी कमजोर नहीं समझना! वीरगति यदि प्राप्त भी हो तो प्रजा प्रसन्न ही होती है। तुम पर सहृदयों की जीविका निर्भर है। कृष्ण! युधिष्ठिर से कहना राज्य जुए में हारने का मुझे दुख नहीं है। किन्तु मैं द्रौपदी के अपमान को सह नहीं सकती। मेरे पुत्रों का पौरुष जगाना! और उनका कुशलक्षेम तुम्हारे हाथ में है।"

श्रीकृष्ण ने यथावत् सन्देश पाँचों भाइयों को दिया।

और युद्ध आरंभ हो गया। भीष्म धराशायी हो गये। द्रोणाचार्य के सेनापतित्व में पाण्डव के पक्ष के कुन्ती के पौत्र अभिमन्यु को सात महारथियों ने मिलकर रथहीन करके मारा, उनमें कर्ण भी एक थे! अभिमन्यु अर्जुन-सुभद्रा के पुत्र थे जिनने शस्त्रविद्या अपने मामा श्रीकृष्ण से सीखी थी! दादी कुन्ती अभिमन्यु की मृत्यु के समाचार से हिल गई! वह सोच नहीं पा रही थी कि किन शब्दों में बहू सुभद्रा और पौत्रवधू उत्तरा को सान्त्वना दे! फिर धैर्य रख बोली–"युद्ध में जो मरते हैं उनका तो पता नहीं लेकिन जो बाद में रोने को रह जाते हैं वे जिन्दा ही शव

होते हैं। बेटा उत्तरा! तेरे सामने पहाड़-सा जीवन पड़ा है'' और फफककर रो पड़ी!

विदुरपत्नी ने जैसे-तैसे सँभाला!

द्रोणाचार्य खेत रहे। कर्ण सेनापति बनाये गये। समाचार सुनकर कुन्ती चिन्ता में पड़ गई। कर्ण का मरना निश्चित-सा था, कृष्ण की कृपा से अर्जुन की जीत होनी ही है—यह विश्वास करीब-करीब सबको था।

युद्ध युद्ध होता है, यह सिद्ध हो गया था जब कर्ण जैसा महारथी श्रीकृष्ण की युक्तियों से अर्जुन के द्वारा मारा गया था। युधिष्ठिर इस समाचार से बहुत प्रसन्न थे। अर्जुन ने उत्साह में भरे हुए कुन्ती को यह समाचार पहुँचाया कि ''आपके आशीर्वाद से हम पाँचों भाई सुरक्षित हैं।''

समाचार लाने वाला दूत समझ नहीं सका कि कर्ण की मृत्यु का समाचार सुनकर कुन्ती की आँखों से अश्रुधार क्यों बह चली? वह पूछ बैठा, ''माते क्या हुआ?''

''कुछ नहीं यह प्रेमाश्रु हैं'' कुन्ती का मन रो रहा था, हृदय रो रहा था, भगवान् भास्कर अस्ताचल को जा चुके थे!

सारी रात सोचते-विचारते बीत गई कि अब तो युद्ध का अन्त होना चाहिए। रात का सन्नाटा कुछ और ही कथा कह रहा था। भोर हुई। युद्ध आरंभ होने की शंखध्वनियाँ और भेरियों की ध्वनि सुनाई दी।

अठारह दिन के अविराम युद्ध के उपरान्त कौरव और पाण्डव वंश की विधवाओं, गान्धारी, कुन्ती को साथ ले श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में प्रवेश किया जहाँ शवों के ढेर पड़े हैं। स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों की पहचान के लिए व्यग्रतापूर्वक विलाप करती हुई सारे वायुमण्डल को शोकाकुल किये हुए थीं। युद्धस्थल में कोहराम मचा हुआ था। ऐसे में गान्धारी ने विलाप करते हुए श्रीकृष्ण को शापित कर दिया—''तुमने समर्थ होते हुए युद्ध को क्यों नहीं रोका, तुमने दोनों पक्षों की उपेक्षा क्यों कर दी? जैसे भरतवंश की स्त्रियाँ विलाप कर रही हैं, उसी प्रकार तुम्हारे कुटुम्ब की स्त्रियाँ भी बन्धु-बान्धवों के मारे जाने पर सिर पकड़कर रोयेंगी।''

कुन्ती चीख पड़ी—''अरे! भाभी आपने क्या कर दिया!'' श्रीकृष्ण

ने अत्यन्त धैर्यपूर्वक कहा– "भुआ, तुम्हारा यदुवंश आपसी कलह से नष्ट होगा ही। आपसी कलह का सुपरिणाम होता ही नहीं।"

योद्धाओं के दाहकर्म की व्यवस्था की जाने लगी। विधिपूर्वक अन्त्येष्टियाँ की गईं। भागीरथी के तट पर आकर जलांजलि दी जाने लगी, तब कुन्ती ने पाँचों भाइयों से कहा, "पुत्रो! महारथी कर्ण तुम्हारा सहोदर अग्रज भ्राता था! उसे श्रद्धापूर्वक सादर जलांजलि दो। तुम उसे सूतपुत्र मानते रहे। यह उसका हतभाग्य था!"

कुन्ती के ये शब्द सुनकर युधिष्ठिर विलचित हो गये। बोले– "माँ आपने इस रहस्य को छुपाकर सत्यानाश कर दिया, यदि यह पहले ज्ञात होता तो असंख्य योद्धा काल के ग्रास न बनते और विधवाओं का सागर उमड़ न पड़ता।"

श्रीकृष्ण ने बीच में टोककर कहा, "यह सब तो होना था, तुम, हम व भुआ कुन्ती तो निमित्त मात्र हैं।"

"केशव! माँ का यह रहस्य मेरी वेदना है" युधिष्ठिर ने कहा। कुन्ती मूर्तिवत मौन सब-कुछ सुनती रही।

वृद्ध धृतराष्ट्र और गान्धारी को अपने पुत्रों को खोने का नित्यप्रति दुख न सताता रहे, इसके लिए कुन्ती अपनी पुत्रवधुओं सुभद्रा, द्रौपदी आदि के साथ गान्धारी की सेवा में रहती। महर्षि व्यासजी नित्य आकर सत्संग कराया करते क्योंकि महाभारत युद्ध के उपरान्त जो भी बचे थे वे सब अपने आत्मीयों के विछोह से दुखी थे।

दुख की घड़ी काटे नहीं कटती। पन्द्रह वर्ष बीत गये। कुन्ती को भीमसेन का बर्ताव रुचिकर नहीं लगता था। भीम अनर्थ के लिए धृतराष्ट्र की खोटी बुद्धि को कारण मानते थे। एक बार तो भीम के कटु शब्दों को सुन कुन्ती को गरजकर कहना पड़ा– "भीम! चुप रहो।"

आश्रितता कितनी ही अपने की हो, त्रासदायक होती है। धृतराष्ट्र ने तपस्या करने का विचार रखा तो कुन्ती ने भी निश्चय कर लिया कि वह भी उनके साथ वन जावेगी।

गान्धारी से कहा– "भाभी! मुझे वन जीवन का दीर्घकालिक अनुभव है। मैं साथ चलूँगी।" गान्धारी ने कुन्ती के कन्धे पर हाथ रखा, धृतराष्ट्र ने गान्धारी के कन्धे पर और तीनों हस्तिनापुर के वैभव को त्याग तपमय

जीवन बिताने वन को चल पड़े। कुन्ती को पुत्रों के अनुनय-विनय विचलित नहीं कर सके। वह पुत्रों से बोली, "मैंने अपने लाभ के लिए तुम्हें व श्रीकृष्ण को युद्ध के लिए प्रेरित नहीं किया था। बेटो! मैं तपस्या के द्वारा प्रायश्चित कर पतिलोक जाना चाहती हूँ। मुझे कसक है कि मैं भी महाविनाश की भागीदार हूँ। तप ही शान्ति का एकमात्र उपाय है, इसलिए मुझे मत रोको! मेरे आशीर्वाद सदैव तुम लोगों के साथ हैं।"

अपने श्वसुरतुल्य धृतराष्ट्र और सासुसम गान्धारी की सेवा कर तपस्या में लीन कुन्ती के मन में तनिक भी क्षोभ नहीं था। किन्तु कर्ण की स्मृति का काँटा हृदय से नहीं निकाल पाई थी। अपनी तपस्या के बल पर वेदव्यास ने गंगा तट पर धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती व पाण्डवों को जब मृतक आत्मीयों के दर्शन कराये तब कुन्ती ने कर्णजन्म की गोपनीय घटना व्यास को सुनाई!

"महात्मन, मैं नहीं जानती कि वह पाप था या अपाप, लोक विरुद्ध कर्म तो था।"

वेदव्यास ने सांत्वना देते हुए कहा–"बेटी! वह होनहार था, देवधर्म के द्वारा मानवधर्म दूषित नहीं होता ऐसा सोचकर मानसिक चिन्ता का त्याग कर दो! ममता को भस्म कर दो, यह तपस्या से गिराती है।"

पाँचों पुत्रों तथा कर्ण के मोह को त्याग सेवा में लीन कुन्ती विदुषी तो थी ही, समझ चुकी थी कि अपने बड़ों की सेवा से बढ़कर कोई और तप नहीं, कोई धर्म नहीं। उसके लिए सेवा परम धर्म था।

एक वर्ष से अधिक की अवधि बीत गई, उपवास करते-करते तीनों का तन दिन-प्रतिदिन क्षीण होता गया। वे गंगाद्वार (हरिद्वार) के वन में आ गये। नित्य नियम का कठोरता से पालन करते तीनों का शरीर अत्यन्त जर्जर हो गया।

ज्येष्ठ मास था, दावानल फैला, तपस्वी धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती उसमें भस्म हो गये।

बाद में महाराज युधिष्ठिर ने नारद मुनि से यह समाचार मिलने पर तीनों का उत्तर क्रियाकर्म कराया।

कुरुवंशी एक तपस्विनी का यह अन्त था।

कृपि

शरद्वान नाम के घुमक्कड़ किन्तु एक तपस्वी महात्मा थे। उनका मन वेदाभ्यास में कम और युद्धकला में अधिक लगता था। उन्होंने तपस्या कर अनेक अस्त्र-शस्त्र प्राप्त कर लिए थे, इससे भय खाकर, जैसा कि होता आया करता था, सत्ता प्राप्त इन्द्र ने शरद्वान का तप भंग करने के लिए 'जानपदी' नाम की एक देवकन्या को शरद्वान के पास भेजा। शरद्वान महर्षि गौतम के पुत्र थे, रूपवान और बलिष्ठ! जानपदी युवा तो थी ही वह सौष्ठवी बाला अद्वितीय सुन्दरी भी थी। शरद्वान उस पर आसक्त हो गए। जानपदी और शरद्वान के संसर्ग से एक युग्म कन्या और बालक का जन्म हुआ।

घुमक्कड़ शरद्वान बँधकर नहीं रह सके और बंधन तोड़ चले गये। जानपदी भी मोह-ममत्वविहीन हो बालक और बालिका को गंगा किनारे की एक कुटिया में आश्रमवासियों की छत्रछाया में छोड़ देवलोक चली गई। माता व पिताविहीन बालक ऋषि-पत्नियों के पास थे तो सही किन्तु आश्रम में सुविधाओं की मर्यादा थी। वहाँ बालक की रुचि अनुकूल विद्याभ्यास की सुविधा नहीं थी। संयोग से एक बार हस्तिनापुर के महाराजा राजर्षि शान्तनु उसी वन में आखेट खेलने गए, उनकी दृष्टि शरद्वान के बालक पुत्र और पुत्री पर पड़ी और वे उन्हें हस्तिनापुर ले आये। चूँकि वे दोनों राज्य कृपा के पात्र बन गये थे अतः उनका नाम कृप और कृपि रखा गया। बालक 'कृप' संस्कारी था और बहन 'कृपि' देवलोकी जानपदी की पुत्री होने के कारण अत्यन्त सुन्दर थी।

कालान्तर में विद्वान 'कृप' राज्य के आचार्य नियुक्त हुए और कृपाचार्य कहलाए। कृपि का विवाह शान्तनुवंशी राजा धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों के गुरु द्रोणाचार्य से विधिवत् सम्पन्न हुआ। राज्य आश्रय में अब द्रोणाचार्य का अपना गुरुकुल था। एक दिन कृपि ने द्रोणाचार्य से

पूछा–''ब्रह्मण! आप ब्राह्मण होकर वेदपाठी न होकर क्षत्रियोचित अस्त्र-शस्त्र विद्या में पारंगत कैसे हुए?''

द्रोणाचार्य बोले–''अरे, भामिनी! यह महाशूरवीर ब्राह्मण परशुरामजी की महती कृपा है, वे मेरे गुरु हैं।''

''यह तो ठीक है, लेकिन स्वामी आप अपने मित्र-शत्रु के पुत्र धृष्टद्युम्न को क्यों प्रशिक्षित कर रहे हैं?'' कृपि ने पूछा।

द्रोणाचार्य ने कहा–''कृपि, मुझे लगा कि धृष्टद्युम्न मेरा हनन करने के लिए विराट प्रदेश के राजा द्रुपद के द्वारा पैदा किया गया है और यदि यह मेरा शिष्य बन जावेगा तो शिष्य होने के नाते इतना उपकार तो करेगा कि मुझे जीवनदान दे दे।''

समय भागता गया। कौरव और पाण्डव किशोर राजकुमार धृष्टद्युम्न के साथ युद्धकला में निपुण ही नहीं हुए अपितु परस्पर मात्र शुद्ध प्रतियोगी न होकर शत्रुवत वैमनस्य को अपने मन-मस्तिष्क में पाल बैठे। गुरुमाता कृपि और गुरु द्रोणाचार्य का एकमात्र पुत्र अश्वत्थामा भी राजकुमारों का सहपाठी था। पिता की भाँति वह भी नैष्ठिक वेदपाठी नहीं बन सका। कृपि को यह ठीक नहीं लगता था क्योंकि युद्धकला सृजन के लिए नहीं होती।

नित्य की भाँति शस्त्र अभ्यास चल रहा था कि एक कुत्ता चीखता हुआ आया। उसका मुँह तीरों से भरा था लेकिन रक्त की एक बूँद भी नहीं निकल रही थी। कृपि ने देखा तो उसने अश्वत्थामा से पूछा–''यह कुशलता तुम्हारी है या तुम्हारे प्रतिद्वन्द्वी अर्जुन की?''

''नहीं माँ! संभवतः पिताश्री की हो।'' अश्वत्थामा ने उत्तर दिया।

इतने में द्रोणाचार्य आ गये और चकित हो कुत्ते को देखते रहे। वे अपने शिष्य अर्जुन और पुत्र अश्वत्थामा को साथ लिए उस ओर गये जिस दिशा से कुत्ता आया था। दूर उन्हें एक श्यामवर्ण युवक धनुराभ्यास करता दिखाई दिया। उसके पास अपनी (द्रोण की) मूर्ति देखी।

द्रोणाचार्य ने उससे पूछा–''कौन हो तुम, बेटा?''

''मेरा नाम एकलव्य है।'' और द्रोणाचार्य को प्रणाम किया।

''तुमने यह धनुर्विद्या कहाँ से सीखी?''

''गुरुवर, आपसे ही सीखी।''

"मैंने तो तुम्हें कभी अपना शिष्य बनाया ही नहीं!"

"गुरुदेव जब आपने मुझे भील जाति का होने के नाते अपना शिष्य बनाने से मना कर दिया था तब मैं निराश हो गुरुमाता के पास गया। ममतामयी माँ ने आशीर्वाद दिया, बस मैं आपका शिष्य हो गया। यह अभ्यास है। बड़ी कृपा की जो आप पधारे।"

द्रोणाचार्य को चिन्ता हुई कि एकलव्य पुत्र अश्वत्थामा और प्रिय शिष्य अर्जुन से धनुर्विद्या में आगे निकल जाएगा! उन्होंने युक्ति से गुरुदक्षिणा के रूप में एकलव्य से उसके दाहिने हाथ का अँगूठा माँग लिया।

जब कृपि को अपने पति का यह कपट पता लगा तो क्रोधित हो बोली–"आर्य! आपने पवित्र गुरु परम्परा पर भेदभाव की कालिख पोत दी। पता नहीं यह हमें कहाँ ले जाकर पटकेगा" और दोनों हाथों से अपना मुँह ढक लिया।

द्रोणाचार्य के गुरुकुल में राजरानियाँ यदा-कदा अपने राजकुमारों की कुशलक्षेम पूछने आ जाया करती थीं। माता कुन्ती और गान्धारी साथ-साथ आकर गुरु-माँ कृपि से वार्तालाप करतीं। कभी-कभी गुरु-माँ कृपि भी राजप्रासाद हो आया करती थीं।

युवराज युधिष्ठिर के लिए हस्तिनापुर राज्य का विभाजन कर इन्द्रप्रस्थ का निर्माण हुआ। इन्द्रप्रस्थ के निर्माण और दुर्योधन की एकमेव राजा बने रहने की महत्वाकांक्षा ने वैमनस्य का विकराल रूप लेना आरंभ कर दिया।

एक रात्रि जब सारी प्रकृति सोई हुई थी, साँय-साँय की ध्वनि से वायुमण्डल गूँज रहा था। लगता था मानो प्रकृति नींद में आहें भर रही हो, द्रोणाचार्य अपने कक्ष में सिर पर हाथ रखे बैठे थे, वे उस दिन राजसभा से बहुत दुखी होकर आये थे।

कृपि ने आचार्य से पूछा–"भद्र! आज राजसभा का उत्साह क्यों नहीं? कोई विशेष कारण?"

"कुछ न पूछो कृपि, जी चाहता है अभी प्राण त्याग दूँ!"

"क्यों, क्या हुआ?" आश्चर्य से पूछा।

कृपि आश्चर्यचकित थी कि दीन अवस्था में जब अश्वत्थामा को

दूध के स्थान पर आटा घोलकर पिलाया था तब हिम्मत न हारने वाले ये ब्राह्मण आज इतनी कायरतापूर्ण बातें कह रहे हैं कि प्राण त्याग दूँ।

द्रोणाचार्य कुछ बोल नहीं पा रहे थे। कृपि ने अश्वत्थामा से पूछा–"बेटा, आज राजसभा में क्या हुआ? बता, तेरे पिताश्री इतने उदास और हताश क्यों हैं?"

"कुछ नहीं माँ! राजसभा में जुए का खेल हुआ। खेल तो खेल है! युधिष्ठिर सब-कुछ हार गये और सब-कुछ दुर्योधन का हो गया।"

"युधिष्ठिर और जुआ? क्या कहता है तू!" कृपि आश्चर्यचकित थी।

"हाँ माँ!" अश्वत्थामा हँसते हुए बोला, "द्रौपदी भी हारी, भरी सभा में भाई दुःशासन ने उसका वस्त्र उतारना चाहा...। वस्त्र बढ़ता गया, अन्त में वह हार गया। पता नहीं क्या चमत्कार हुआ!"

"अरे मूर्ख! यह सब क्यों होने दिया? भीष्म पितामह, तेरे पिता, मेरे भाई कृप को क्या हो गया था? राजा धृतराष्ट्र ने तो सिद्ध कर दिया कि वे अन्धे हैं और माँ गान्धारी ने आँखों पर पट्टी बाँध रखी है। सब धर्म-धुरन्धर इस अधर्म के मूक साक्षी क्यों बने? बेटा, शायद महाकाल ने महाविनाश का बीज बोया है।"

कृपि गहरी चिन्ता में खो गई। उसे लगा कि यह किसी महासमर की भूमिका है। किसके सामने अपनी अन्तर्वेदना कहे? कुन्ती की याद आई। कुन्ती पारिवारिक कलह से विक्षुब्ध हो राजप्रासाद छोड़ अपने साधु देवर महात्मा विदुर के गृह में रहने आ गई थी।

माता कुन्ती, विदुर-पत्नी और कृपि विचार में निमग्न थीं। कुन्ती ने मौन तोड़ा–"मेरे पुत्रों का शौर्य उत्तर देगा बहन!"

विदुर-पत्नी ने कहना आरंभ किया–"मेरे पति ने समझाने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी।...दुर्योधन नहीं माना। भ्राता धृतराष्ट्र ने भी उस कुक्रीड़ा की अनुमति दे दी! भीष्म, भाई कृप, आर्य सब देखते रहे या आँख बन्द कर अन्धे की भाँति सब-कुछ होने दिया।"

कुन्ती से कृष्ण ने जो कहा था उसे दोहराया–"मैंने कृष्ण से कहा–माधव! तुम धर्मप्राण युधिष्ठिर से कहना कि तुम्हारे धर्म की बड़ी हानि हो रही है। बेटा, तुम इसे बर्बाद न होने दो। भीम और अर्जुन से कहना

कि क्षत्राणियाँ जिस काम के लिए पुत्र उत्पन्न करती हैं उसका समय आ गया है। समय आने पर प्राणों का मोह मत करना...पता नहीं श्रीकृष्ण ने उन लोगों से क्या कहा?"

विदुर-पत्नी बोली–"श्रीकृष्ण को अत्यन्त क्रोधित मुद्रा में देखा था, पता नहीं उनकी सौम्यता कहाँ चली गई थी!"

कृपि ने बीच में कहा–"श्रीकृष्ण ने हमेशा नारी के सम्मान की रक्षा की है, उनका क्रोधित होना स्वाभाविक है। लगता है श्रीकृष्ण का क्रोध विनाश की चरम सीमा है।"

और तीनों ने मौन धारण कर लिया। कृपि अपने गुरुकुल आश्रम में आ गई। आश्रम में महाकाल को मनाने के लिए अनुष्ठान करने बैठ गई।

युद्ध अवश्यंभावी हो गया था। पति द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा ने कृपि से विदा ली। अश्वत्थामा बोला–"माँ! आशीर्वाद दो कि यशस्वी होऊँ।"

"बेटा! धर्म में यश मिलता है? लगता है तुम दोनों का विवेक शून्य हो गया है।"

द्रोणाचार्य ने बस इतना कहा–"कृपि! मैं जानता हूँ धर्म क्या और अधर्म क्या? लेकिन जो अन्न राजा धृतराष्ट्र का खाया है उसे बजाना तो पड़ेगा ही!"

कृपि ने पूछा–"किन्तु आर्य, आपने राजकुमारों को शिक्षित कर अन्न का मूल्य चुका दिया है, अब क्या बंधन है?"

"भद्रे, मैं दुर्योधन को वचन दे चुका हूँ। पीछे नहीं हटा जा सकता। अब जो होगा देखा जावेगा।"

"देखा जावेगा क्यों?"

"युद्ध के परिणाम के विषय में कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि कौन मरेगा और कौन बचेगा।"

"फिर युद्ध क्यों किया जाता है?"

द्रोणाचार्य कुछ उत्तर देते कि तभी एक ब्रह्मचारी ने आकर कहा–"गुरुदेव! आचार्य कृप पधारे हैं।" द्रोणाचार्य कुटिया से बाहर आये, आचार्य कृप के हाथ में हाथ लिए बोले–"जय देव! पधारिये! भीतर

चर्चा करेंगे..."

दोनों भीतर आ गये। चर्चा में द्रोणाचार्य, कृप और कृपि ही थे, अश्वत्थामा कहीं गया हुआ था। तीनों मौन बैठे हुए थे, कुटिया के भीतर व बाहर नीरवता छाई हुई थी। किसी अज्ञात अशुभ की कल्पना लिए आचार्य कृप मौन तोड़ते हुए बोले–"भाईजी! आप अच्छे रहे, मैंने पुरोहिताई स्वीकार करके बड़ा निकृष्ट कार्य किया। दुर्योधन सुनता नहीं, राजा धृतराष्ट्र मोहवशात् अनुचित निर्णय में हिचकिचाते नहीं, भीष्म की ज्ञानरहित सिंहासन से प्रतिबद्धता और पाण्डवों की प्रतिशोध की भावना ने युद्ध अन्ततः अनिवार्य कर दिया..."

बीच में कृपि बोली–"तो क्या श्रीकृष्ण की भी नहीं चल रही है?"

"हाँ श्रीकृष्ण के प्रयास सफल नहीं हुए, लगता है उनके प्रयास ऊपरी मन से थे।"

"ऊपरी मन से ?" कृपि का प्रश्न था।

"हाँ, वे कृष्णा के अपमान और रसातल को जाती हुई राज्य व्यवस्था को एक ही हल्ले में निपटा देने का मन बना बैठे हैं!"

"फिर आप दुर्योधन और कौरवों दोनों का साथ छोड़ क्यों नहीं देते?" कृपि का प्रतिप्रश्न था।

कृपाचार्य कोई उत्तर देते, बीच में ही द्रोणाचार्य बोल उठे–"अरी कृपि! हमारा दुर्भाग्य है कि हमने राज्य आश्रय स्वीकार कर अपनी आत्मा को कर्तव्य का दास बना लिया, अब जो होना होगा देखा जावेगा, तुम निश्चिन्त रहो, अर्जुन अपने शिष्यत्व को निभाएगा।"

"शंका है, धृष्टद्युम्न ऐसा न कर सका तो?"

"उसे शिष्यत्व इसीलिए तो दिया था कि..." वे वाक्य पूरा कर पाते कि अश्वत्थामा ने आकर आचार्य कृप को प्रणाम किया और बोला–"मामाश्री! आप लोग कुमार दुर्योधन के साथ हैं न?"

"बेटा! और चारा ही क्या है? भीष्म का निर्णय हमारा निर्णय है। भीष्म सेनापति जो हैं। और जीत आखिर धर्म की होगी।" कृपाचार्य यह कहते हुए उठ खड़े हो गए। जाते-जाते उन्होंने कृपि को देखा और बोले–"बहन, जिधर धर्म है वहीं श्रीकृष्ण हैं। देखें कौन क्या करता है।"

कृपि ने अति मार्मिक भाषा में कहा–"आप लोगों ने वेद त्याग शस्त्र

ग्रहण किया। अच्छा नहीं किया। सात्विकता में जीवन है—राजसिकता में कष्ट और तामसिकता में मृत्यु! युद्ध जीवन की एक तामसिक क्रिया है जिसमें क्रोध, प्रतिशोध, जीत की महत्वाकांक्षा उत्पन्न होती ही है। ये तीनों बुद्धि को विनाश के अन्धकार में ले ही जाते हैं, फिर भी आशा है कि श्रीकृष्ण युद्धभूमि में शान्ति का कोई मार्ग खोज ही लें।''

आचार्य द्रोण और कृपाचार्य टकटकी लगाकर कृपि की ओर देखने लगे, अश्वत्थामा ''कृष्ण! कृष्ण!...'' बड़बड़ाता हुआ कुटिया से बाहर हो गया।

कृपि से विदा ले भाई कृपाचार्य भी चले गये। द्रोणाचार्य अपने नित्य नैमित्तिक कर्म में लग गये।

और, कुरुक्षेत्र से सेना का कोलाहल शान्त गगन को चीरता हुआ द्रोणाचार्य के गुरुकुल की शान्ति भंग कर रहा था। कुटिया में कृपि थी—कुछ ब्रह्मचारी थे, ऋषि-पत्नियाँ गुरुकुल की सेवा में लगी हुई थीं।

एक ब्रह्मचारी ने आकर समाचार दिया—''माताश्री! युद्ध आरंभ हो गया है। अपने सेनापति वृद्ध पितामह भीष्म हैं और पाण्डवों के सेनापति युवा धृष्टद्युम्न हैं।''

''धृष्टद्युम्न!'' आश्चर्य से कृपि ने पूछा।

ब्रह्मचारी बोला—''हाँ माते! धृष्टद्युम्न!''

धृष्टद्युम्न का नाम सुनकर कृपि चिन्ता में पड़ गई क्योंकि महाराज द्रुपद ने धृष्टद्युम्न को आचार्य द्रोण के वध के लिए ही पैदा किया था। चिन्ता के अलावा उसके हाथ में बस शिवार्चन ही था—वह अनुष्ठान में बैठ गई ताकि पिता व भाई की रक्षा हो सके।

अनुष्ठान के ग्यारह दिन बीत गये। ग्यारहवें दिन जो महायुद्ध अपनों के बीच अपनों द्वारा लड़ा जा रहा था उसमें महारथी पितामह धराशायी हो गये थे। कौरव पक्ष में हताशा बढ़ रही थी। ऐसी घटाटोप में आचार्य द्रोण में आशा की किरण दिखाई दी, उन्हें कौरव सेना का सेनापति नियुक्त किया गया।

जैसे ही ब्रह्मचारी ने समाचार सुनाया कि आचार्यश्री सेनापति बनाये गये, कृपि ने अपना सिर पीट लिया और बड़बड़ाई—''जब पितामह धराशायी हो गये तो क्या आचार्य हारा हुआ युद्ध लड़ेंगे? हे सदाशिव!

तुम्हारे मन में क्या है?'' और पति, पुत्र व भाई की कुशल मनाने लगी।

किन्तु युद्ध को चौदह दिन बीत चुके तो समाचार मिला कि आचार्यश्री को धृष्टद्युम्न ने मार डाला, वे शस्त्र छोड़ विषाद वाली अवस्था में अपने रथ पर बैठे थे। निहत्थे का वध करना नियम विरुद्ध था लेकिन अभिमन्यु को मारते समय आचार्य स्वयं यह नियम तोड़ चुके थे। छह महारथियों ने मिलकर निहत्थे अभिमन्यु का वध किया था उनमें आचार्यश्री भी एक थे!

इस समाचार ने कृपि पर वज्रपात-सा कर दिया। उसे ऋषि-पत्नियों ने सँभाला। वह रोते-रोते बोली–''आचार्य को समझाया था कि ब्राह्मण का धर्म युद्ध करना नहीं है और कौरवों का पक्ष श्रीकृष्ण के कारण कमजोर है।...''

विलाप करते-करते कृपि का बुरा हाल था। अश्वत्थामा, युद्धक्षेत्र से माँ को ढाढ़स बँधाने आया–''माँ! कल के युद्ध में मैं पिताश्री की मृत्यु का बदला लेकर रहूँगा!''

''बेटा! क्यों अपनी मृत्यु का आह्वान करता है!''

''नहीं माँ नहीं...'' और चला गया।

अठारहवें दिन युद्ध में अनगिनत सैनिक और प्रमुख योद्धा मारे गये।

पाण्डव विजयी हुए। युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर राज्य सँभालकर अपनी गुरु-माँ कृपि के पास भाइयों सहित आकर संवेदना प्रकट की–''गुरु-माँ! विधि के विधान को कोई नहीं जानता। युद्ध बुरा होता है जानते हुए हम लड़े। दोनों पक्षों ने खोया। हमारे पुत्र मारे गये। गुरुवर आचार्य को मारने का पाप हमारे सिर पर है...''

''नहीं बेटा! नहीं, इसमें तुम दोषी नहीं हो, दोष तो मोह का है, लोभ का है, द्वेष का है, ईर्ष्या का है, अहंकार का है!...''

भ्राता कृपाचार्य भी साथ थे, बोले, ''बहन, क्या कहें! युद्ध का अन्त दुखद ही होता है। जो जीतता है उस पर हार को भी हँसी आती है।''

''भैया, आप तो ठीक हैं, पुरोहित का पद खाली नहीं हुआ?'' एक व्यंग्य-सा कर कृपि मौन हो गई। सब चले गये।...रात्रि की साँय-साँय में ऋषि-पत्नियों के साथ कृपि उदास बैठी थी। अपने वैधव्य पर सोच

रही थी कि छिपते-छिपाते अश्वत्थामा ने कुटिया में प्रवेश किया, आते ही बोला–"माँ मैं अज्ञात वनों में जा रहा हूँ! आज से दसवें दिन पिताश्री का गंगातट पर हरिद्वार में श्राद्ध-तर्पण आदि कर दूँगा, यह ऋण उतारना है।"

"मेरे पास बैठ न बेटा!"

"नहीं माँ, यहाँ मेरे प्राण पर खतरा है। भीमसेन क्षमा नहीं करेंगे और वे इतने क्रोध में हैं कि युधिष्ठिर महाराज की अवज्ञा करने से नहीं चूकेंगे, मुझसे जघन्य हत्या जो हो गई है!"

"जघन्य हत्या!" कृपि को आश्चर्य हुआ।

"हाँ माँ उत्तरा के गर्भ को नष्ट करने का पाप मुझसे क्रोध व प्रतिशोध वशात हुआ है। प्रायश्चित तो करना होगा न!"

कृपि के चरण स्पर्श करता हुआ बोला–"माँ पता नहीं कब मिलना होगा! मामा कृप हैं, धर्मराज युधिष्ठिर हैं तो थोड़ी निश्चिन्तता है..."

कृपि को छोड़ भटकने चला गया, जीवन का सत्य यही है कि पिता ने छोड़ा, पति ब्रह्मलीन हो गये और पुत्र भयवशात छोड़ चला गया।

हिडिम्बा

छलपूर्वक कौरवों ने पाण्डवों को विस्थापित कर दिया था। जैसे-तैसे महात्मा विदुर की छद्म सहायता से वे लाक्षागृह से बचकर निकले थे और घनघोर वन में एक वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे। पाँचों भइयों में भीम यथोनाम तथोगुण वाले भीमकाय थे। उन दिनों आर्यों द्वारा पराजित हो रक्ष संस्कृति के शेष बचे राक्षस वनों में निवास कर वनवासी के रूप में रह रहे थे। उनका श्रेष्ठ राक्षस हिडिम्बासुर उसी वन में अधिकारपूर्वक रह रहा था, उसने पाँच मनुष्य और एक स्त्री, जो कुन्ती थी, को विश्राम करते देखा। उसके साथ उसकी षोडशी बहन हिडिम्बा भी रह रही थी। उसने अपनी बहन से कहा–''आज मुझे बहुत दिनों के बाद मनुष्य माँस मिलने का योग दिखता है। तुम उन मनुष्यों को मेरे पास लाओ।''

भीम पहरा दे रहे थे, बाकी उसके भाई माँ कुन्ती सहित थककर सो रहे थे। भीम पर हिडिम्बा मोहित हो गई। मोह प्रीत से बड़ा साबित हुआ। वह भाई के आदेश को भूल गई। वह पाण्डवों के पास सुन्दरी बन पहुँची और भीम से बोली–''नरश्रेष्ठ! आप कौन हैं, कहाँ से आए हैं? ये सोए हुए पुरुष कौन हैं? यह वृद्धा स्त्री कौन है? इस जंगल में भयंकर राक्षस हिडिम्ब का निवास है, मैं उसकी बहन हूँ, उसने भक्षण हेतु मुझे आप लोगों को लिवा लाने के लिए भेजा है। किन्तु मैं आपकी देवोपम सुन्दर देह को देख मोहित हो गई हूँ। मैं नरभक्षी राक्षस से आपकी रक्षा करने में समर्थ हूँ। आप छहों को मैं आकाशमार्ग से सुरक्षित स्थान पर ले जा सकती हूँ। मैं शक्तिशाली मायावी हूँ। मैंने राक्षसी देह त्याग षोडशी मानवी रूप आपके लिए ही धारण किया है।'' वह बोलती चली गई।

भीम ने उत्तर दिया–''बस! बस! मुझे तुझसे या तेरे भाई से कुछ

लेना-देना नहीं। न मुझे तेरा और तेरे भाई का कोई डर है। अपने रास्ते चली जा। तेरा एकपक्षीय मोह है।''

हिडिम्ब्रा को आने में देर होते देख राक्षस हिडिम्ब स्वयं आया और घोर गर्जना कर पाण्डवों पर झपटा। भीम उसे पकड़ दूर वन में घसीटकर ले गया और उसकी इहलीला समाप्त कर दी।

बातचीत का हल्ला सुन कुन्ती जाग चुकी थी, बोली–''सुन्दरी तुम कौन हो?''

हिडिम्बा ने कहा–''माँ! यह जो घना जंगल है, यह मेरा और मेरे भाई हिडिम्ब का निवासस्थान है। इस निर्जन वन में कोई नहीं आता। भाई ने आप लोगों को मारने के लिए मुझे भेजा था। यहाँ आकर मैं आपके बलवान पुत्र पर मोहित हो गई हूँ।'' कुछ लजाते हुए कहा।

सब भाई जाग चुके थे। युधिष्ठिर व भीम से अर्जुन ने कहा–''यहाँ से वारणावत नगर दूर नहीं है, हम लोग जल्दी निकल चलें, दुर्योधन को कहीं पता न चल जाय!'' पाँचों भाई कुन्ती के साथ चलने लगे, पीछे-पीछे हिडिम्बा भी चलने लगी।

हिडिम्बा को पीछे आते देख भीमसेन ने कहा–''देवी! मैं जानता हूँ कि राक्षस मोहिनी माया के सहारे बैर का बदला लेते हैं। तू जा और अपने भाई का रास्ता नाप!'' उसे मारने के लिए जैसे ही हाथ ऊपर उठाया वैसे ही युधिष्ठिर ने रोककर कहा–''भैया, क्रोधवश स्त्री पर हाथ नहीं उठाना चाहिए। तुम धर्म की रक्षा करो। जब तुमने इसके भाई को मार डाला तो यह तुम्हारा व हमारा कुछ नहीं बिगाड़ पाएगी।''

हिडिम्बा ने कुन्ती और युधिष्ठिर को प्रणाम किया और कहा–''आर्ये! आप जननी हैं, कामासक्त नारी की पीड़ा दुस्सह होती है। आपके पुत्र से मैं सुख चाहती हूँ। मैं सत्य प्रतिज्ञा करती हूँ कि यदि मैं आपके पुत्र को न पा सकी तो प्राण त्याग दूँगी।''

कुन्ती ने कहा–''बेटी! तुम्हारी संस्कृति अलग और हमारी अलग! कैसे मेल बैठेगा!''

हिडिम्बा ने उत्तर दिया–''जब आपने मुझे बेटी सम्बोधित किया तो मेरा कार्य हो गया।''

पाँचों भाइयों और कुन्ती ने विचार किया और भीम से विवाह की

अनुमति इस शर्त पर दी कि "दिन-दिन में भीम तुम्हारे पास रहेंगे और रात्रि में हम लोगों के पास आ जावेंगे।"

भीम और हिडिम्बा का विवाह आर्य और अनार्य दोनों पद्धति से वन में हो गया। विवाहोत्सव में वनवासी और ऋषि-मुनि उपस्थित थे। हिडिम्बा ने अनुपम सुन्दरी का रूप धारण कर लिया था। उसके रूप के सामने उर्वशी भी कुछ नहीं लगती।

विवाहोपरान्त भीमसेन ने हिडिम्बा से कहा–"हमारी एक प्रतिज्ञा है कि पुत्र न होने तक ही हम स्त्री-सहवास करते हैं। पुत्र होने के पश्चात् मैं तुम्हारे पास नहीं रह सकूँगा।"

हिडिम्बा ने स्वीकार कर लिया और बोली–"आर्य! आपके सुख में मेरा सुख है।"

समय बीतने में क्या लगता है! वन में सारी व्यवस्था हिडिम्बा ने की। हिडिम्बा ने एक पुत्र को जन्म दिया। तब कुन्ती से हिडिम्बा बोली–"माँ बनने पर स्त्री का जन्म सफल होता है, मैं भी पुत्र की माँ बन गई, मेरा स्त्री जन्म सफल हो गया।"

हिडिम्बा के पुत्र के सिर पर बाल नहीं थे और सिर घट के समान था। अतः उसका नाम 'घटोत्कच' रखा गया। नामकरण के बाद घटोत्कच को लिए हिडिम्बा ने माँ कुन्ती और युधिष्ठिर को प्रणाम किया और कहा–"मैं शिशु को लिए जाती हूँ ताकि आपकी विजय यात्रा में बाधक न बनूँ। वन में इसकी यथा शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था आर्य और अनार्य मिलकर करेंगे, यह विश्वास दिलाती हूँ। माँ वास्तव में घटोत्कच के रूप में एक प्रेममयी नई संस्कृति का जन्म है।"

कुन्ती ने अपने प्रथम पौत्र को दुलारा, पाण्डव वंश का प्रथम शिशु सबको प्यारा क्यों न हो!

अपने लक्ष्य को ध्यान में रख पाण्डवों ने एकचक्रा नगरी में एक ब्राह्मण परिवार के घर अपना निवास बनाया और हिडिम्बा अपने पुत्र घटोत्कच के साथ वन में ही रही।

वन में घटोत्कच की शिक्षा-दीक्षा मिली-जुली हुई। वह अति बलवान, अस्त्र नियंत्रण और चालन में पारंगत हो गया। हिडिम्बा अपने पुत्र के साथ सुखी थी। इधर वन में भटकते हुए पाण्डव द्रुपद राज्य में पहुँचे

और द्रौपदी को स्वयंवर में प्राप्त किया।

पन्द्रह-सोलह वर्ष से अधिक की अवधि बीत गई। पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ बसाया, उसे युधिष्ठिर ने जुए में हारा, भाइयों को हारा, द्रौपदी को हारा और फिर वन-वन भटके। भटकते हुए हिडिम्बा ने देखा कि आर्य किसी सुन्दरी के साथ हैं। जिज्ञासावश वह बोली–"आर्य!" और चुप रही।

भीम ने कहा–"भामिनी! हमारे साथ राजमहिषी द्रौपदी है, जो वन में साथ-साथ भटक रही है।"

हिडिम्बा बोली, "आप लोगों ने हमें क्यों याद नहीं किया? हम एक पल में पापी कौरवों की हेकड़ी भुला देते। सुना था कि उन्होंने बहन द्रौपदी की लाज पर हमला किया था!"

"पुत्री! अभी समय नहीं आया।" युधिष्ठिर ने बड़ी आत्मीयता के साथ कहा। द्रौपदी ने पूछा, "पुत्र घटोत्कच अब कितना बड़ा हो गया? कैसा लगता है?"

हिडिम्बा ने बताया–"बिलकुल आर्य पर गया है? जिद्दी बहुत है, ऋषि-मुनियों से उसका व्यवहार अच्छा है। वन में अब बदलाव आया है।" चर्चा चल रही थी ऐसे अवसर पर श्रीकृष्ण का आगमन हो गया। हिडिम्बा ने उन्हें प्रणाम किया।

हिडिम्बा को आशीर्वाद देते हुए श्रीकृष्ण बोले, "हिडिम्बा! घटोत्कच को तो बुलाओ। हम सब मिल लेंगे।"

हिडिम्बा घनघोर वन में गई और घटोत्कच को साथ लिवा लाई। घटोत्कच ने सबको प्रणाम किया।

द्रौपदी ने उसके सिर पर हाथ फेरा और कहा, "दीर्घायु हो! सुखी रह!" बड़ा सौहार्द्रपूर्ण वातावरण था।

श्रीकृष्ण से हिडिम्बा बोली–"जगन्नाथ! वन जीवन के कष्टों से हमारी मुक्ति कब होगी!"

श्रीकृष्ण का भावपूर्ण उत्तर था–"जब तुम लोग पुरुषार्थपूर्वक हृदय से चाहोगे।"

घटोत्कच ने बीच में पूछा, "इसकी कोई अवधि होगी काकाजी?"

"बेटा! यह आज भी हो सकता है और जन्मजन्मांतर भी लग सकते

हैं। संस्कृति के रूपान्तरण में धैर्य की आवश्यकता होती है। और याद रखना सब समय सब स्थिति एक-सी नहीं होती, निःसर्ग परिवर्तनशील है तो हम क्यों नहीं?''

चर्चा चल ही रही थी कि हिडिम्बा ने सोचा कि अब इन बड़ों के मध्य अधिक रहकर इनके भावी कार्यक्रम में रुकावट क्यों डाली जाय।

उसने घटोत्कच को साथ ले जाते-जाते कहा, ''जब भी आप लोग बुलावेंगे, हम किसी भी प्रकार की सेवा में पीछे नहीं रहेंगे।''

और घनघोर वनवासिनी चली गई।

तेरह वर्ष बीत गये। चौदहवें वर्ष में महायुद्ध की तैयारी चल रही थी। सैन्य संगठन के समय स्व पक्ष को मजबूत करने की दृष्टि से महावीरों को याद किया जा रहा था, उनमें हिडिम्बाकुमार घटोत्कच भी था।

हिडिम्बा ने पुत्र को विदा करते समय कहा–''बेटा! तेरे पिता क्षत्रिय हैं, मैं विवाह उपरान्त क्षत्राणी हुई! एक क्षत्राणी अपने पति और पुत्र को युद्ध के लिए विदा करते समय गौरव का अनुभव करती है। जा! अपने पिता और परिवार की रक्षा करना, युद्धभूमि में क्षत्रिय वीर अपनी पीठ नहीं दिखाते। तू एक क्षत्रिय वीर है।''

महाभारत का युद्ध आरंभ हुआ और चरम सीमा पर पहुँचा। दुर्योधन ने मायावी राक्षस अलम्बुष को अपनी ओर मिला लिया। उसने युद्धभूमि में पाण्डव सेना को काफी हानि पहुँचाई, घटोत्कच को भीम ने बुलाकर कहा, ''बेटा इससे तुम निपटो!''

महाबली घटोत्कच ने कुछ ही पल में उसके रथ पर चढ़कर उसे दोनों हाथों पर उठाकर पृथ्वी पर पटककर मार डाला। अपने पुत्र का पराक्रम सुन हिडिम्बा बहुत प्रसन्न हुई, किन्तु यह प्रसन्नता पाण्डव शिविर में अधिक रुक नहीं सकी और कर्ण की इन्द्र द्वारा प्रदत्त शक्ति के प्रहार से घटोत्कच मारा गया। हिडिम्बा के जीवन का तार टूट गया!

युद्धभूमि में तटस्थ रहने वाले श्रीकृष्ण घटोत्कच की मृत्यु से प्रसन्न थे। आश्चर्य! अर्जुन ने पूछ ही लिया।

श्रीकृष्ण बोले–''यदि कर्ण के द्वारा नहीं मारा जाता तो मुझे मारना पड़ता। घटोत्कच यज्ञों को नष्ट करने वाला हो गया था, उसे अन्य कोई मार नहीं सकता था। धर्म संस्थापना के लिए अपने प्रिय और

निकटतम का विनाश कराना पड़ता है। अर्जुन देखते जाओ–किस-किस प्रियजन की आहुति देनी पड़ती है।''

अपने पुत्र के मारे जाने से हिडिम्बा को अत्यन्त क्षोभ हुआ किन्तु दूसरे ही क्षण घटोत्कच के पुत्र को देख मन को समझा लिया, ऐसे अवसर पर मन मारने के अलावा कोई विकल्प नहीं होता है।

महाभारत का युद्ध विराम पा चुका था। कई अक्षोणी सेना सहित दोनों पक्षों के वीर वीरगति पा चुके थे। करुण क्रन्दनकारी हुई असंख्य विधवा स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों-पुत्रों को संग्रामांगण में खोज रही थीं, युधिष्ठिर द्रौपदी सहित पाण्डव विचलित थे। महाजलांजलि के कार्य का सम्पादन किया जा रहा था।

माता कुन्ती ने एकाएक रोते हुए कर्णजन्म का रहस्य उजागर किया कि कौमार्य अवस्था में उस वीर पुरुष ने उसकी कोख से जन्म लिया था। उसे पाँचों पाण्डव भाई जलांजलि दें। आश्चर्य और शोकपूर्ण वातावरण बन गया!

जलांजलि देते समय द्रौपदी ने हिडिम्बा को अपने पास खड़ा किया, हिडिम्बा मानुषी वेश में थी। उसने अपने वीर पुत्र घटोत्कच को जलांजलि दी। द्रौपदी ने जो अपने पाँचों मृत पुत्रों और सुभद्रा अभिमन्यु को जलांजलि दे रही थी, हिडिम्बा से कहा, ''बहिन! युद्ध ने हमको पुत्रहीन कर दिया!'' सुभद्रा मौन हो सारे दुख को पी रही थी।

हिडिम्बा ने पूछा, ''क्या युद्ध नहीं टाला जा सकता था?''

द्रौपदी बोली, ''इसका उत्तर तो कृष्ण के अलावा कोई नहीं दे सकता।''

जलांजलि के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने यथाविधि सबका प्रेतकर्म अपने-अपने सम्बन्धियों से कराया जिसमें राक्षस और आर्य पद्धति एकमेव थी। हिडिम्बा प्रेतकर्म के पश्चात् भीम से यह कहकर कि ''आर्यभद्र! स्मरण करते रहियेगा'' अपने पौत्र सहित वन-गमन कर गई।

द्रौपदी

द्रौपदी को पाँचों पाण्डवों युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के साथ कुल-पुरोहित धौम्य मुनि की अगुवाई में वन-वन भटकते तेरह वर्षीय वनगमन की अवधि में से अधिकांश समय बीत चुका था, ऋषि-मुनियों के आश्रम उनके विश्राम स्थल होते थे। तपस्या और दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के लिए पाँचों भाइयों ने अपने पुरुषार्थ में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। अर्जुन स्वर्म तक नाप आये थे। भीमसेन ने हिमालय पर्वत पर श्री हनुमानजी के दर्शन कर आशीर्वाद पा लिया था। ऋषियों के आश्रमों में सत्संगों द्वारा ज्ञानार्जन करते हुए पाण्डव अपने कर्मों को काट रहे थे।

श्रीकृष्ण यदा-कदा कुशलक्षेम पूछने आ जाया करते थे। एक दिन अपनी प्रिय पत्नी सत्यभामा के साथ वे द्वैत वन में पहुँचे जहाँ पाण्डवों ने अपना डेरा डाला हुआ था। एकान्त पा सत्यभामा द्रौपदी के पास आई। दोनों ने बड़े प्रेम से एक-दूसरे का आलिंगन किया।

कुशलक्षेम पूछने के पश्चात् सत्यभामा ने द्रौपदी से सीधे ही प्रश्न किया—"बहन! तुम्हारे पति पाण्डव लोकपालों के समान शूरवीर हैं, धैर्य के धनी हैं, तुम किस प्रकार व्यवहार करती हो कि सर्वदा तुम्हारे आधीन रहते हैं। कौन-सा जप, तप, व्रत, मंत्रविद्या है, कुछ बताओ ताकि श्यामसुन्दर कृष्ण केवल मेरे रहें।"

द्रौपदी ने बड़े संयत शब्दों में कहना आरंभ किया—"सत्ये! पति को आधीन करने की बात कुलचारिणी स्त्री को शोभा नहीं देती, तुम कृष्ण की पट्टमहिषी हो, भूलकर भी धूर्त के चक्कर में मत पड़ना! अब मुझे ले लो, तुम्हारे प्रिय पति मेरे अनन्य कृष्ण ने यदि कौरव सभा में मेरे नारीत्व की रक्षा नहीं की होती तो..." और द्रौपदी फफककर रो पड़ी।

सत्यभामा ने ढाढ़स बँधाते हुए कहा—"कृष्णा! गतं न शोचामि।

तुम्हारे धर्मात्मा पति पुरुषार्थ कर रहे हैं, यह मुझे श्यामसुन्दर सुनाया करते हैं। तुम्हारा विवाह भी अलौकिक कहा जायगा! अर्जुन ने स्वयंवर में तुम्हें मत्स्य भेदकर जीता और विदुषी भुआ ने बिना विचारे कह दिया कि पाँचों भाई उपयोग करो।''

द्रौपदी ने माता कुन्ती की सत्यवादिता पर कभी सन्देह किया ही नहीं। बोली, ''तुम्हारे श्यामसुन्दर और महर्षि व्यास ने मेरे पूर्वजन्म का वर्णन करके मेरा भविष्य निश्चित कर दिया और मैं यज्ञकुण्ड से उत्पन्न द्रुपदपुत्री बन गई। तुम्हें ज्ञात ही है कि मेरी अन्य बहनें–भौम्या, मणिका, भव्या, सुललिता और सुरम्या और भाई धृष्टद्युम्न तथा शिखण्डी के साथ पिताश्री द्रुपद के संरक्षण में रहकर हमारे संकट की घड़ी की समाप्ति के लिए प्रतीक्षरत हैं।''

सत्यभामा ने जिज्ञासापूर्वक पूछा, ''द्रुपदसुता! यह बताओ तुम अपने पाँच स्वामियों के बीच कैसे समभाव रख पाती हो।''

द्रौपदी ने अपना आँचल समेटते हुए कहा–''सत्ये! यह माता कुन्ती के उपदेश का सुफल है। जब हम लोग वन-गमन के लिए निकल रहे थे तब हम उनका आशीर्वाद लेने गये, तब उन्होंने कहा था, 'बेटी, तुम स्त्रियों का धर्म जानती हो! घोर संकट में पड़कर दुख से घबराना मत। निर्दोष द्रौपदी तुमने अमर्ष को जीत लिया है, अपने स्वामियों पर विश्वास करके कौरवों को शाप देकर भस्म नहीं किया। उनके अत्याचार को धर्मराज की मर्यादा समझ सहन किया! एक बात तुमसे कहनी है कि वन में रहते समय मेरे प्यारे पुत्र सहदेव का विशेष ध्यान रखना। कृष्ण ने मेरे पुत्र, मेरी व तुम्हारी रक्षा क्यों की? वह अनन्त और अनादि हैं। वे आर्त पुकार पर आते हैं।' सत्ये! मैंने कहा, माँ मैं जानती हूँ कि कृष्ण सबके रक्षक हैं किन्तु वे क्या लीला कर रहे हैं यह तो माँ, समय बताएगा! इतना जानती हूँ।'' और श्रीकृष्ण आ गये।

''सत्या, चलें बहुत बातें हो गईं, द्वारिका पहुँचने में समय लगेगा और सुना है भौमासुर ने आक्रमण कर दिया है।'' और जैसे ही सत्यभामा तैयार हुई द्रौपदी ने खड़े होकर अभिवादन किया, कृष्ण बोले–''मैं कृष्ण और तुम कृष्णा! मैं साध्य और तुम साधन! ध्यान रखना तुम्हारे स्वामी पुरुषार्थ से डिगने न पावें! कष्ट की घड़ी टल जावेगी, अत्याचार के

पर नहीं होते, उसे गिरना ही होता है। अच्छा चलें!"

"श्याम! कुशलक्षेम लेते रहना!" कृष्ण चले गये और द्रौपदी के लिए अनेक प्रश्न छोड़ गये।

जो स्वभाव से दुष्ट होते हैं उन्हें तो कुछ भी छेड़खानी करने में आनंद आता है। जब सबको ज्ञात हो गया कि पाण्डवों का द्रौपदी सहित द्वैत वन में वास है तब दुर्योधन के बहनोई जयद्रथ, दुःशला के पति जो द्रौपदी पर आसक्त थे, द्रौपदी को हरण कर ले जाने लगे किन्तु अर्जुन की वीरता के आगे उन्हें समर्पण करना पड़ा। क्रोधित भीम ने जब जयद्रथ को मारने का उपक्रम आरंभ किया, युधिष्ठिर ने दयालुता दिखाई कि उनकी चचेरी बहन दुःशला विधवा हो जावेगी।

द्रौपदी को कौरव राजसभा के बाद मन मसोसकर दोबारा अपमान का घूँट पीना पड़ा। नारी कोई भी हो अपनी लज्जा रक्षा के लिए नागिन होती है जो बदला लिए बिना चैन नहीं पाती है। द्रौपदी सती थी लेकिन तत्कालीन प्रतिपक्ष ने कभी उसे सती स्वीकार नहीं किया और वह पग-पग पर उसका अपमान करने की युक्ति करता रहा। इस पक्ष के अगुआ दुर्योधन, दुःशासन व कर्ण, शकुनि आदि थे।

जब बाहुबल में उन्होंने अपने को कमजोर पाया तो युक्ति बल का सहारा लिया। ऋषि दुर्वासा क्रोध के लिए प्रसिद्ध थे, शाप देना उनके लिए मामूली बात थी। दुर्योधन व उसके सहयोगियों ने उनकी खूब आवभगत की, वे प्रसन्न हो गये। प्रसन्न हो वर माँगने को कहा तो उनके सामने कुटिल माँग रखी—"हमारे बड़े भाई युधिष्ठिर द्वैत वन में हैं। उनके यहाँ भिक्षा लेने अवश्य पधारकर उन्हें भी पुण्य लाभ दें।" दुर्वासा तैयार हो गए।

श्रीकृष्ण सजग रहते थे, इस छल का उन्हें पता चला। जब सब अभ्यागत सहित भोजन कर चुकते तब द्रौपदी भोजन करती और भोग्य पदार्थ कुछ शेष नहीं रहता। द्रौपदी भोजन कर चुकी थी, ऋषि दुर्वासा अपने शिष्यों सहित पहुँच गये। स्नान करने के लिए वे मुनिगण गये, इसी बीच द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण ने ऋषि सहित शिष्यों को तृप्त कर दिया, और वे पाण्डवों के आवास पर आये बिना ही डरकर चले गये। पाण्डव आवास पर कृष्ण ने द्रौपदी से कुशलक्षेम पूछी और बैठकर आने वाले

एक वर्ष, जिसमें पाण्डवों को अज्ञातवास करना था, की योजना बनाने लगे। द्रौपदी की राय तथा व्यवस्था सर्वोपरि रहती थी!

योजना बनी कि मत्स्यदेश के राजा विराट का राज अज्ञातवास के लिए बहुत सुरक्षित है, वहाँ कौरव और उनके गुप्तचर नहीं पहुँच सकते! छहों को अपना-अपना स्वरूप बदलकर रहना होगा।

द्रौपदी ने कहा–"माधव! हमारा तो ठीक लेकिन हमारी सन्तान कैसी है?"

"कृष्णा! प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन सहित अभिमन्यु बहन सुभद्रा व अपनी मामियों के संरक्षण में प्रसन्न रहते हुए शिक्षा-दीक्षा में प्रवीण बन रहे हैं। द्वारिका में प्रवेश करने का दुष्टों का साहस नहीं है।"

"आपके तथा भ्राता बलरामजी के होते हुए हम निश्चिन्त हैं और राजा विराट के यहाँ कौन क्या काम करेंगे ताकि पाण्डवों को पहचाना न जा सके।" धौम्य मुनि पांचाल देश चले गये। श्रीकृष्ण की राय के अनुसार पाण्डवों ने विराट नगर में प्रवेश किया। युधिष्ठिर ने अपने को कंक नामक ब्राह्मण घोषित कर विराट राजा के साथ चौसर खेल मित्र जैसे रहने का पूरा नाटक किया। भीम बल्लभ बन रसोइये बने। नकुल, सहदेव ने अश्वशाला और गौशाला के कार्य में नियुक्ति पाई। कपट वेश में अर्जुन ने वृहन्नला नामक नपुंसक बन स्वयं को नृत्य संगीत कला का प्रवीण बताया।

अर्जुन कठिन परीक्षा से गुजरे, उनकी नपुंसकता का युक्तिपूर्वक परीक्षण कराया गया। द्रौपदी ने वृहन्नला की ओर देख कटाक्ष करते हुए कहा–

"वाह रे भाग्य!" और उसने विराट की रानी सुदेष्णा की सेवा में सैरन्ध्री बन दासीत्व स्वीकार किया। उसका रूप-लावण्य देख रानी सुदेष्णा को शंका हुई–"सैरन्ध्री तुम दासी हो नहीं सकती, तुम्हारी आकृति, बोलचाल से तुम अनेक दास-दासियों की स्वामिनी जान पड़ती हो! तुम कोई अप्सरा, देवकन्या, नागकन्या, रोहणी या कोई और हो। मुझे शंका है।"

द्रौपदी ने बड़ी चतुराई भरा उत्तर दिया–"महारानी, मेरे पति गन्धर्व

हैं! मैं समय की मारी पृथ्वी पर विचरण कर रही हूँ। जहाँ-तहाँ सेवा करती रहती हूँ, भोजन और वस्त्र के सिवा और कुछ नहीं लेती। मुझे जितना भी मिल जाय उसी में सन्तोष कर लेती हूँ।'' उत्तर से सन्तुष्ट हो महारानी सुदेष्णा ने अपने पास रख लिया!

अज्ञातवास की अवधि कठिन परीक्षा की थी। द्रौपदी के लिए अपने को छिपाना अत्यन्त कठिन था। अपने समय की वह लावण्यमयी युवती थी, संयम-नियम उसकी थाती थी। उस पर कोई भी मोहित हुए बिना नहीं रहता था। महारानी सुदेष्णा ने तो पूछ ही डाला, ''महाराज विराट तुम पर आसक्त हो गये तो?''

''रानी वह नौबत नहीं आयेगी, मैं उनके सामने नहीं जाऊँगी'' किन्तु रानी सुदेष्णा का भाई कीचक जो लंपट था, सेना का सेनापति था, सैरन्ध्री पर आसक्त हो गया!

रानी को उसने प्रभावित कर लिया और सैरन्ध्री को अपने पास बुला भेजा। द्रौपदी ने गुप्त रूप से भीमसेन से बात की। कीचक अपने साथियों सहित मारा गया। राजा विराट के मन में भ्रम उत्पन्न हो गया! उन्होंने द्रौपदी के पास सन्देश भिजवाया कि ''उस तरुणी को जहाँ इच्छा हो जाने दिया जाय!''

द्रौपदी को अनुनय विनय करनी पड़ी, ''अब मात्र तेरह दिन की बात है, जहाँ आपने ग्यारह महीने निभाया! मेरे पति गन्धर्व आयेंगे और मुझे ले जायेंगे, इसमें आप लोगों का हित ही होगा!''

कौरव चौकन्ने थे! गुप्तचरों से उन्हें ज्ञात हो गया था कि पाण्डव विराट नगर में हैं। अपने सैन्य बल के साथ चढ़ाई कर दी।

वृहन्नला वेशी अर्जुन ने विराटपुत्र उत्तर का सारथी बन युद्धक्षेत्र में प्रवेश किया। उत्तर डरकर भागा तो अर्जुन ने उसे सारथी बनाया और कौरव वीरों को हराकर नगर में प्रवेश किया।

उत्तर ने पूरी घटना सुनाकर पाण्डवों का परिचय स्पष्ट किया। राजा विराट ने क्षमा प्रार्थना की। पूज्यनीय मान उनका समुचित सम्मान किया और अपनी पुत्री उत्तरा का अभिमन्यु के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा।

वनवास की अवधि पूरी हो चुकी थी। अब प्रकट होने का कोई

भय नहीं था।

विराट के राज्य में उपपलव्य स्थान पर पाण्डव राजकीय सम्मान के साथ रहने लगे। राजा विराट ने उत्तरा-अभिमन्यु विवाह हेतु द्वारिका निमंत्रण भेजा। श्रीकृष्ण, बलराम, कृतवर्मा, सात्यकि, अक्रूर आदि क्षत्रियकुमार अभिमन्यु और सुभद्रा को साथ लेकर आये।

द्रौपदी के जीवन का अब और कठिन क्षण था कि निर्लज्ज, दुष्ट, पापात्मा कौरव व उनके साथियों से बदला लेने के लिए धर्म की आड़ लेकर मोहवशात युद्ध से मुख मोड़ चलने वाले पाण्डवों को कैसे तैयार किया जाय। भीम अपवाद थे, किन्तु युधिष्ठिर को युद्ध के लिए तैयार करना आसान नहीं था, अन्य भाई उनके पीछे थे।

अब कृष्ण और कृष्णा आमने-सामने थे। विचार विनिमय अन्तिम निर्णय करने के लिए किया जा रहा था।

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को संबोधित कर कहना आरंभ किया–"राजन्! आपकी बुद्धि द्वन्द्व में है, युद्ध भी न हो और आपको अपना खोया हुआ सब-कुछ बिना युद्ध के मिल जाय! परन्तु यह क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म नहीं है। आप कुटिल स्वभाव और कदाचरण वालों के साथ मेलमिलाप न करें! राजसभा में पापी दुःशासन द्रौपदी के केश पकड़कर खींच लाया था, आपने पराक्रमी भाइयों को रोक दिया था।"

युधिष्ठिर ने कहा, "माधव! युद्धोपरान्त विनाशक स्थिति की कल्पना कर मैं सन्धि का पक्षधर हूँ।"

"राजन् मैं सन्धि का प्रयत्न करूँगा, किन्तु, मुझे पूरा-पूरा आभास हो रहा है कि हमें संग्राम करना ही पड़ेगा!"

बीच-बीच में भीम, अर्जुन व नकुल ने भी अपने विचार रखे। वे भी युधिष्ठिर की भाँति अपने पौरुष को भूल मैत्री भाव में थे।

श्रीकृष्ण ने भीम, अर्जुन व नकुल की ओर आमुख हो कहा–"मैं वही करूँगा जिसमें कौरव और पाण्डवों का हित हो, किंतु प्रारब्ध को बदलना मेरे वश में नहीं है। पृथ्वी का भार तो उतरना है, पापियों के पाप से बड़ा भारी भार और कोई नहीं होता।"

तत्पश्चात् सहदेव ने स्पष्ट कहा, "सनातन धर्म की बातें कही जा रही हैं, मेरी स्पष्ट राय है कि युद्ध ही हो। दुर्योधन व कौरवों द्वारा द्रौपदी

की दुर्गति देख जो क्रोध हुआ था, वह उन दुष्टों के प्राण लिए बिना शान्त नहीं होगा।''

द्रौपदी ध्यानपूर्वक सब सुन रही थी। कृष्ण को संबोधित कर बोली– ''जनार्दन! दुर्योधन की मण्डली ही नहीं अपितु पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि बड़ों ने निष्क्रिय हो पापियों से भी अधिक पाप किया। मेरे रक्षक धनुर्धारी अर्जुन, गदाधारी भीम के बल को धिक्कार है, अब आप धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा उनके सहायकों पर पूरा-पूरा कोप कीजिये। एक अबला नारी के केश खींचकर उसे भरी सभा में निर्वस्त्र करने के पश्चात् कौन-सा कृत्य शेष रह जाता है जिसे पापी करते? अर्जुन और भीम कायर होकर सन्धि को उत्सुक हैं तो मेरे पुत्र अभिमन्यु सहित युद्ध करेंगे, उनके पीछे मेरे पिता और भाई की शक्ति होगी।'' कृष्णा फूट-फूटकर रोने लगी।

कृष्ण ने धैर्य बँधाते हुए कहा, ''कृष्णे! तुम शीघ्र ही कौरवों की स्त्रियों को रुदन करते देखोगी। भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव व अन्य स्वजन शस्त्र उठाकर शत्रुओं से टक्कर लेंगे।''

द्रौपदी ने अभी सिसकते हुए कहना जारी रखा–''केशव! मैं जानती हूँ कि पापियों के हृदय में द्वेष का बीजारोपण तब ही हो गया था जब मेरे मुख से मेरी तामसिक मति ने विश्वकर्मा द्वारा निर्मित महल में दुर्योधन के द्वारा धोखा खा जाने पर उच्चारण करवा दिया था कि अन्धे की सन्तान अन्धी होती है। मुझे इसका पश्चाताप है लेकिन कुछ किया नहीं जा सका, शब्दबेधी बाण वापस लिया जा सकता है-लेकिन शब्द नहीं। कौरव सारी सामाजिक मर्यादा लाँघ चुके हैं।''

''द्रुपदसुता! युद्ध में दोनों पक्षों को खोना है! युद्ध न ही हो तो अच्छा किन्तु यह हो तो धर्म की ही जय और अधर्म की पराजय निश्चित होती है।'' श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को निदेशित किया कि ''वे युद्धोपयोगी सामग्रियाँ जुटा लें। दुर्योधन जीतेजी किसी भी प्रकार कुछ नहीं देगा।''

सन्धि वार्ता जैसी अपेक्षा थी, असफल रही। कुरुक्षेत्र के विशाल मैदान में पाण्डवों और कौरवों की सेनाओं का जमावड़ा था। पाण्डवों के सेनापति भीमसेन थे। कौरवों के सेनापति भीष्म पितामह थे। उनके धराशायी होने पर द्रोणाचार्य सेनापति बनाये गये। निहत्थे अभिमन्यु को

सात महारथियों ने मिलकर मार डाला। पाण्डवों की यह बड़ी भारी क्षति थी।

जैसे ही रनिवास में यह समाचार पहुँचा, द्रौपदी, सुभद्रा और षोडशी उत्तरा चीख पड़ीं। द्रौपदी और सुभद्रा एक साथ बोल पड़ीं, "कृष्ण और पार्थ को क्या हो गया? वे किशोर अभिमन्यु की प्राणरक्षा न कर सके? अब उत्तरा को क्या उत्तर देंगे।"

यदि अभिमन्यु का हनन नहीं होता तो अर्जुन को पूर्ण मनोयोग से युद्ध करने में मोहजनित बाधा थी, हालाँकि श्रीकृष्ण के उपदेश के पश्चात् उन्होंने कह दिया था "नष्टो मोहः स्मृति लब्धा..." और श्रीकृष्ण युक्तिपूर्वक अर्जुन को नेतृत्व देने में पीछे बने रहते। गुरु द्रोणाचार्य को धृष्टद्युम्न ने मारा, कर्ण मारे गये (कुन्ती की मनःवेदना फिर भी प्रकट न हो पाई), मामा शल्य हताहत, दुःशासन की भुजाएँ तोड़कर और दुर्योधन की जंघा तोड़कर भीम को शान्ति मिली।

धृतराष्ट्र के अन्धे लोभ और गान्धारी की बुराई सहन करने की वृत्ति के कारण उन्हें अपने पुत्रों को खोना पड़ा।

भयंकर हिंसा हुई, हिंसा की प्रतिक्रिया हमेशा बड़ी वीभत्स प्रतिहिंसा होती है। घायल दुर्योधन ने मरते-मरते अपने नीच प्रकृति के गुरुपुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य और यादव कृतवर्मा को बदला लेने के लिए प्रेरित किया।

द्रौपदी ने सुना कि अश्वत्थामा ने उसके सोते हुए पाँच पुत्रों को एक ही साथ मार डाला और तीनों भाग खड़े हुए। हाहाकार मच गया। द्रौपदी ने सब-कुछ खो दिया। बदला बहुत महँगा पड़ा!

अश्वत्थामा को सबक सिखाने भीम और अर्जुन गये। उसने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर डाला। द्रौपदी दोहरी चिन्ता में पड़ गई। ब्रह्मास्त्र को वापिस लेना अश्वत्थामा को नहीं आता था, वह शस्त्र उसने पाण्डव वंश मिटाने के लिए उत्तरा के गर्भ पर छोड़ दिया, उत्तरा ने मृत बालक को जन्म दिया। पर श्रीकृष्ण अपने प्रिय भान्जे अभिमन्यु व वधू उत्तरा के प्रति अत्यधिक स्नेह रखते थे, उन्होंने मृत बालक को संजीवनी विद्या से जीवित कर दिया। द्रौपदी और सुभद्रा को सन्तोष हुआ कि कोई वंश चलाने वाला आया!

पाण्डवों ने अपने ज्येष्ठ भाई युधिष्ठिर के साथ राज्य व्यवस्था सुव्यवस्थित की। भारत के लगभग सभी क्षत्रप एक ध्वज के नीचे आ चुके थे जो कृष्ण और कृष्णा की राजनैतिक योजना थी।

इसी बीच श्रीकृष्ण के वंशधरों ने सद्मार्ग का उल्लंघन किया और श्रीकृष्ण ने अपने कुमार्गी वंशधरों को भी नहीं छोड़ा। यादववंशी गान्धारी के शाप से प्रभावित होने वाले थे कि सप्तऋषियों के साथ अशोभनीय व्यवहार कर शापित होना पड़ा और परस्पर प्रभास क्षेत्र में अपने जीवन की इहलीला समाप्त की।

श्रीकृष्ण अपने अग्रज बलराम के साथ परमधाम चले गये। अर्जुन का गाण्डीव, उनके तीर और उनके पीछे की मंत्र शक्ति ने विस्मृति के कारण अर्जुन का साथ छोड़ दिया। वे यदुवंश की नारियों की आभीर के लुटेरे से रक्षा नहीं कर सके। श्रीकृष्ण के प्रपौत्र ब्रज, सात्यकि और कृतवर्मा को साथ लिए शेष नारियों के साथ हस्तिनापुर आये।

यह करुण दृश्य द्रौपदी व सुभद्रा को अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में देखना पड़ा। दीर्ध आयु एक अभिशाप होती है। यह प्रत्यक्ष अनुभव था। युधिष्ठिर ने पूर्ण संयम और धैर्य रखते हुए द्रौपदी से कहा–"भामिनी! बहुत कुछ खोकर जो राज्य मिला, महाकाल सब प्राणियों को पका-पका तोड़ रहा है, काल के बन्धन को स्वीकार करना है।"

कृष्णा ने पूछा, "त्याग ही एक मार्ग शेष रह जाता है, हम त्यागें या काल हमें त्यागने के लिए बाध्य कर दे। किन्तु, राजन्! अभी परीक्षित छोटा है।"

"उसके वयस्क होते तक कुलगुरु कृपाचार्य के संरक्षण में युयुत्सु (धृतराष्ट्र के एक पुत्र) राज्य की देखभाल करे तो ठीक रहेगा।"

द्रौपदी व अन्य भाइयों ने सहमति व्यक्त की। सुभद्रा को सम्बोधित कर युधिष्ठिर ने कहा–"हम वनगमन करेंगे और वहाँ तप कर प्रायश्चित करने का हमारा निश्चय है, फिर आगे प्रस्थान करने के लिए महाकाल जो निदेशित करें। तुम्हारा पौत्र परीक्षित कौरवों का राजा होगा, यदुवंशियों में जो बच गये हैं उनके राजा श्रीकृष्ण के प्रपौत्र ब्रज होंगे। परीक्षित की राजधानी हस्तिनापुर और ब्रज की राजधानी इन्द्रप्रस्थ! तुम्हें इनकी रक्षा करनी है।"

पूर्वजों का विधिवत श्राद्ध व तर्पण आदि कर द्रौपदी सहित पाँचों भाइयों ने महाप्रस्थान आरंभ किया। द्रौपदी अत्यन्त व्यथित हृदय लिए धैर्य के साथ स्वामियों के पीछे-पीछे मौन धारण कर चलने लगी। बीच-बीच में सहदेव से चर्चा करती रहती थी। वे चारों भाइयों के पीछे चल रहे थे। सब अपनी-अपनी धुन में थे। वे मन में अपनी-अपनी कहते और अपनी सुनते जा रहे थे। एकाकी रहने पर भी जनमन मौन नहीं रहता, कुछ न कुछ गुनगुनाता रहता है। यही स्थिति द्रौपदी की थी। बर्फ में उसकी भौतिक देह कब गल गयी इतिहास को भी पता नहीं!

हिमालय की दुर्गम पगडण्डियों पर जीवन संग्राम से थके ये यात्री चले जा रहे थे। मंजिल शायद स्वर्ग थी।

सुभद्रा

उसने अपने माथे का सौभाग्य-चिह्न मिटा दिया जब उसे पता चला कि उसके अपराजेय पति हिमालय के शृंग पर चढ़ते समय बर्फीली आँधी के शिकार हो गये। पास ही खेलता हुआ दस वर्षीय प्रपौत्र जनमेजय आया और पूछ बैठा, ''बड़ी दादी माँ, बड़ी दादी माँ, आज आपका माथा सूना-सूना क्यों है?'' वृद्धा सुभद्रा फफककर रो पड़ी। बालक जनमेजय को दौड़कर दादी उत्तरा ने सँभाल लिया और वह भी रो पड़ी। राजकुमार जनमेजय के लिए यह एक अजीब-सा दृश्य था, उसे कैसे समझाया जाय कि ''वैधव्य की पीड़ा कितनी सालती है,'' उस पीड़ा की कसमसाहट मृत्युपर्यन्त बनी रहती है। जनमेजय ने पूछ ही लिया, ''बड़ी दादी माँ कहो न सब।''

सुभद्रा ने कहना आरंभ किया, ''यादव सामंत वसुदेव की प्रिय पुत्री हूँ। मेरे पिता ने आठ पुत्रों के बाद पाया था। पिता सुनाया करते थे कि मेरे भाइयों का जन्म कारागार में हुआ था! छह भाइयों को उनके मामा कंस ने शैशव अवस्था में जन्मते ही मार डाला था। किसी प्रकार वे दो भाइयों को युक्तिपूर्वक बचा पाये थे, उनका पालन-पोषण उनके सखा ने मथुरा नगरी से दूर नन्दग्राम में किया था। किशोर भाइयों ने कंस को, जो पिता महाराज अग्रसेन को हटाकर बलपूर्वक मथुरा का राजा बन बैठा था, मारकर माता-पिता को बन्दीघर से मुक्त कराया।

उन दिनों बड़ी और छोटी बातों के लिए युद्ध-लड़ाई, मार-काट मामूली बात थी। प्रतिशोध सामान्य था, क्षमा क्वचित। तुम्हारे मामा कंस के श्वसुर जरासन्ध, जो मिथिला के शक्तिशाली राजा थे, ने बदला लेने के लिए मथुरा पर हमला बोल दिया। हम हमारे भाइयों बलराम और कृष्ण की छत्रछाया में भागकर द्वारिका में आये। द्वारिका अवश्य विश्वकर्मा ने निर्माण की फिर भी क्षत्रियों को युद्ध के लिए तैयार रहना पड़ता।''

जनमेजय उत्तरा से अपने को छुड़ाकर सुभद्रा के पास आ गया और अपनी जिज्ञासा के लिए पूछा—"बड़ी दादी माँ! आप द्वारिका से इस हस्तिनापुर कैसे आईं?"

"मेरा तुम्हारे पड़दादा वीरवर अर्जुन के साथ विवाह हुआ था, विवाह के बाद अपने मायके को छोड़ ससुराल आना पड़ता है।"

"अच्छा तो हस्तिनापुर आपका ससुराल है! लोग आपके भाई, मेरे बड़े मामा कृष्ण की बड़ी महिमा सुनाते हैं।"

"हाँ बेटा! भैया कृष्ण थे ही महान चमत्कारी पुरुष! वे न होते तो न तो तुम्हारे पिता इस दुनिया में होते और न ही यह कुरुवंश ही चलता!"

"क्यों" जनमेजय ने आश्चर्य से पूछा—"मेरे पिता को क्या हुआ था? वे तो बड़े प्रतापी हैं।"

"क्या बताऊँ बेटा! तेरे पितामह महायुद्ध में सात महारथियों द्वारा मारे जा चुके थे, और तेरा पिता गर्भ में था।..." सिसक पड़ी और कहना चालू रखा, "प्रतिशोध कितना अन्धा होता है। दुर्योधन के मित्र अश्वत्थामा ने उसे गर्भ में ही नष्ट करना चाहा था, भैया कृष्ण ने तेरे पिता को युक्ति से बचा लिया!"

जनमेजय की माँ माद्रवती बीच में बोल उठी, "बस कर जनमेजय, दादी माँ थक चुकी हैं।"

"अरे बेटी! दुखड़ा सुनाने से हल्कापन हो जाता है।"

"किन्तु माँ भय है हिंसा का इतिहास सुनते-सुनते यह कहीं हिंसक न हो जाय।" यह कहते हुए माद्रवती जनमेजय को ले जाने लगी, इतने में महाराज परीक्षित आ गये, हँसकर बोले, "अरे माता, पुत्र, पड़दादी माँ और दादी माँ के बीच क्या संवाद चल रहे हैं!" परीक्षित की दादी सुभद्रा और माता उत्तरा ने आँसू पोंछ लिए।

महाराज परीक्षित ने आते ही सुभद्रा से कहा, "दादी माँ! आपको भैया ब्रज ने इन्द्रप्रस्थ बुलाया है, कब तैयारी की जाय।"

"काहे की तैयारी बेटा! अब तो चिरयात्रा की तैयारी करना है। बस! बहुत देख चुकी, अच्छा भी देखा—बुरा भी देखा। पूर्ण मनोयोग से अपने पितृ पुरुषों की आज्ञा का पालन किया।"

"दादी माँ एक बात, वह रहस्य खोलती जाओ।" परीक्षित ने आग्रह

किया।

''कोई रहस्य मैं क्यों रखूँगी?'' परीक्षित हँसकर बोले–''दादा अर्जुन के साथ आपका प्रेम विवाह था न। वे मामा व श्रीकृष्ण की तरह आपको हरण करके लाये थे न?''

''अरे परीक्षित! तू अपने मामा की तरह बड़ा नटखट है रे!''

''बताओ न दादी!''

माद्रवती और उत्तरा भी विस्मयपूर्वक सुनने को आतुर हो गईं कि उनकी बड़सास का प्रेम प्रसंग क्या और कैसा था? सुभद्रा ने कहना आरंभ किया, ''बेटा! मेरे किशोर अवस्था में पदार्पण करते मेरे पिता व माता विवाह के लिए चिन्तित हुए।''

परीक्षित ने बीच में टोका और हँसकर पूछा–''दादी माँ, सुना है आप बहुत सुन्दर थीं।''

सुभद्रा कुछ लजाई और बोली–''हाँ, कई राजपुरुष मेरा हाथ माँगने लगे थे। पिताश्री चिन्तित थे कि यूँ ही कोई लंपट राजपुरुष मुझे अपहरित न कर ले जाय! उन लंपटों में राजा दुर्योधन भी एक थे। उन्होंने बड़े दादा बलरामजी को पटा लिया था। वे उनके गदायुद्ध कला के शिष्य थे। जब मुझे मालूम हुआ तो मैंने एक दिन भाभी सत्यभामाजी से कहा–''भाभी! भैया कृष्ण से कहो कि दुष्ट दुर्योधन से बात न बने।''

सत्यभामा भाभी ने मेरी बात बनाई और मैं दुष्ट के चंगुल से बच गई।'' कहते-कहते एक साँस ली और बोली–''सुन! भाभी ने पूछा–''बहन तुम्हारे दिल में कोई और है?''

मैंने लजाते हुए कहा–''मैंने वीर अर्जुन के विषय में सुना है वे अत्यन्त लुभावने हैं। भैया के सखा हैं।''

''पर बहना वे तो पहले से ही विवाहित हैं, उनकी तीन-तीन पत्नियाँ हैं।''

''ठीक है भाभी! हम क्षत्राणियों का भाग्य सौतों के बीच ही गुजरता आया है। भैया को लो, मेरी आठ भाभियाँ हैं न!''

सत्यभामा भाभी ने अपने दाँतों से ओंठ अवश्य काटे और मेरी बात बता दी।''

''लेकिन दादी माँ, आपकी आर्यभद्र से भेंट कैसे हुई? आप द्वारिका

में और वे हस्तिनापुर में!" माद्रवती पूछ बैठी।

"बेटी! क्यों बीते दिन याद दिलाती हो।"

"नहीं बताओ न। कहीं इतिहास आपके साथ ही न चला जाय।" माद्रवती का आग्रह था! माद्रवती ने वयस्क अवस्था प्राप्त कर ली थी। वह उत्तरा से बहुत छोटी थी, उत्तरा मर्यादा में रहकर अधिकांश मौन रहती थी, उसका करुण जीवन उसे कुछ न बोलने के लिए मजबूर करता रहता था, लेकिन सुनने को उत्सुक तो थी कि उसके कला आचार्य अर्जुन का प्रणय प्रसंग क्या था।

सुभद्रा ने अपने को संयत करके सुनाना आरंभ किया, "दादा कृष्ण ने अपने वनवास अवधि में आर्यश्रेष्ठ को द्वारिका आमंत्रित किया। वे संन्यासी वेश में आये थे। वे अत्यन्त तेजस्वी लगते थे। संन्यासी की सेवा धर्म होता है। पिताश्री और बड़े भैया ने मुझे उनकी सेवा में लगा दिया। मैंने पूरी तन्मयता से उनकी सेवा धर्म मानकर की। जब मुझे बातचीत में पता चला कि वे वीरवर तो मेरे प्रिय हैं। मैंने अपनी भाभी सत्यभामा से चर्चा की—वे बोलीं, "सोच लो! बहन सुभद्रा, कठिनाई भरा निर्णय करना है।" मैंने कहा, "बहन मैं अन्य क्षत्राणियों की भाँति वैधव्य नहीं चाहती। क्षत्रियों का युद्ध एक धर्म है। युद्ध में मृत्यु आमंत्रित की जाती है और वीरश्रेष्ठ अपराजेय हैं, इनकी भैया की भाँति युद्ध-मृत्यु नहीं है।"

भैया कृष्ण और भाभी ने मेरा आर्यश्रेष्ठ के साथ भागने का सारा उपक्रम कर दिया। बड़े दादा बलरामजी ने विरोध किया तो उन्हें बड़ी युक्ति से समझा भी दिया। पिताश्री ने फिर विधिवत विवाह कर मुझे हस्तिनापुर के लिए विदा किया! हो गई कथा पूरी।"

"नहीं दादी माँ! यहाँ तक कहाँ आईं और आगे सुनाओ न!

"बेटी! आगे की कथा व्यथा का मिश्रण है। क्या सुनाऊँ! बहन द्रौपदी और माता कुन्ती ने औपचारिकताएँ निभाईं। उस समय बहन उलूपी और चित्रांगदा से भी भेंट हुई, मुझे लगा माँ-पिता ने कहाँ उलझा दिया? तीन सौतों के बीच मैं कैसे जीवन जी सकूँगी! पर पुत्री! आर्यश्रेष्ठ अति कुशल पति थे। सब ठीक चल रहा था। अभिमन्यु का जन्म हो चुका था! बहन द्रौपदी से एक-एक करके पाँच पुत्रों का जन्म हो चुका था।

मैं और बहन द्रौपदी चर्चा कर रहे थे कि बहन द्रौपदी ने कहा, "लगता है ताऊश्री कोई युक्ति खेल रहे हैं और बड़े आर्य इतने सीधे सरल हैं कि धर्म, कर्म और कर्तव्य की व्याख्या में ही उलझे रहते हैं और पितामह, हमें चाहते बहुत हैं किन्तु दुर्योधन की चौकड़ी उन्हें हम लोगों के प्रति मूक दर्शक बनाये हुए है।"

"भैया कृष्ण सब सँभाल लेंगे बहन"...मेरा वाक्य पूरा होता कि अचानक भैया आ गये और बोले–"कृष्णा! छहों भाइयों सहित सुभद्रा को इसी घड़ी द्वारिका ले जा रहा हूँ। तुम्हारे हस्तिनापुर में जुए की बड़ी बिसात बिछ चुकी है। तुम्हें अति सावधान रहना है। तुम पूरे नाटक की प्रमुख पात्र हो।"

हम भैया, अभिमन्यु, प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन सहित द्वारिका के लिए रवाना हो गये! मैंने मार्ग में भैया से पूछा–"भैया बताओ न! बिना स्वामी से मिलाये एकदम क्यों चलने के लिए तत्परता दिखाई।"

"सुभद्रे! बड़े भैया युधिष्ठिर का अति विश्वास और अपने प्रति उनकी मोहदृष्टि हमें रोक देती है। आगे बस नियति का खेल दृष्टाभाव से अत्यन्त यौगिक चित्त से समझते हुए देखती जाओ! बिलकुल लिप्त मत होना, तनिक भी लिप्तता बहुत कष्टप्रद होती है। तुम मेरी अनुजा हो, तुम्हें एक योगिनी की भाँति जीना सीखना है।"

"भैया! पहेली न बुझाओ।" भैया चुप हो गये। थोड़ी देर बाद बोले–"सुभद्रे! दायित्व निभाने की कला में तुम निपुण हो! इन बालकों को भाभियों के साथ एक अवधि तक पालना, पोसना और योग्य बनाना है।" रथ अपनी तीव्र गति से चल रहा था।

हम द्वारिका आ गये। बालकों की अपने यदुवंशी किशोरों साम्ब, अनिरुद्ध आदि से खूब पटती थी। शिक्षण, प्रशिक्षण, युद्धकला की निपुणता भैया कृष्ण और बड़े दादा बलरामजी की देखरेख में व्यवस्थित चल रही थी, कि भैया कृष्ण एकदम अचानक बिना किसी को कुछ कहे हस्तिनापुर के लिए भाग खड़े हुए! पिताश्री विस्मित थे, बोले–"मैं वृद्ध हो गया लेकिन कृष्ण की लीला आज तक समझ नहीं पाया।" इसी बीच दादा बलराम तीर्थयात्रा के लिए चले गए। प्रद्युम्न, युयुत्सु आदि की द्वारिका में राज्य

व्यवस्था थी।

भैया द्वारिका शीघ्र ही आ गये! मैं कुछ पूछती इसके पूर्व ही वे बोले–"तेरह वर्ष की दीर्घ अवधि के लिए मेरे सखा अर्जुन और उनके चारों भाई द्रौपदी सहित वनवासी बना दिये गये हैं। भुआ कुन्ती ने अपने देवर विदुर के यहाँ शरण ले ली है। वीभत्स छल के आगे मैंने भी न चाहते हुए घुटने टेके हैं, यह परिणाम नहीं है।"

मैंने अति आतुर हो पूछा–"कहो तो भैया! आखिर हुआ क्या?"

"बहन! न सुनो तो अच्छा! क्लीव की भाँति वीरवर बैठे रहे और कृष्णा को नग्न करने का उपक्रम होता रहा।"

भैया संयत किन्तु क्रोधपूर्ण मुद्रा में बोले–"छल में जुआ शीर्ष पर होता है। धर्मराज कहे जाने वाले भैया युधिष्ठिर ने जुआ खेला, शकुनि ने दुर्योधन के लिए खेलकर उन्हें हरा दिया–राजपाट गया। वनवास मिला। अब पता नहीं छहों कहाँ भटकेंगे। अस्तु, देखेंगे कि अपन उनकी क्या सहायता कर सकते हैं। लाचारी यह कि भैया युधिष्ठिर का धर्म जड़ है, उसमें लोच नहीं, जड़ता टूटती है।"

मैं बड़े सोच में खो गई!

बारह वर्ष बीत गये। अभिमन्यु सहित पाँचों भाई भी बड़े हो गये।

सुखद समाचार मिला कि महाराज विराट के यहाँ पाँचों भाई बहन द्रौपदी सहित सुरक्षित हैं। महाराज विराट ने अपनी कन्या उत्तरा का अभिमन्यु के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा है और हमें विराट नगर जाना है।

बेटी! मैं सास बन गई! आर्यश्रेष्ठ से बड़ी प्रतीक्षा अवधि के बाद भेंट हुई! सुख के दिन कम होते हैं! युद्ध की तैयारी में लग गये।

बड़े-बूढ़े, युवा, किशोर सब युद्धोन्माद में थे। प्रतिकार,, अधिकार, न्याय आदि की दुहाइयाँ दे-देकर युद्ध को उचित ठहराया जा रहा था और बेटी! मैं सच कहूँ मन ही मन डर रही थी कि युद्ध तो आखिर युद्ध होता है। पता नहीं उसमें क्या खोना पड़ जाए!

हम लोग भी शिविरों में आ गये थे! नित्य युद्ध-समाचार रात्रि में मिल जाया करते थे। पितामह के धराशायी होने से दुख हुआ, किन्तु, लगा कि युद्ध समाप्त हो जाएगा। आचार्य द्रोण ने सेनापतित्व स्वीकार

किया।

अपने दुख का क्या वर्णन करूँ! तुम्हें बता ही चुकी हूँ कि पुत्र अभिमन्यु छलपूर्वक मारा गया!

बस! अब और न पूछो!''

सुभद्रा मौन हो गई और उठकर चली गई। पुत्रशोक से व्यथित सुभद्रा की व्यथा कई गुनी हो गई जब उन्होंने उत्तरा की आँखों को नम देखा।

अठारह दिन युद्ध चला, खोया अधिक और पाया कम! पाँचों पाण्डव, कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, युयुत्सु ही बचे। युधिष्ठिर ने शवों के ढेर और विधवाओं के आँचल में छिपे इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर के राज्य को सँभाला।

राज्य व्यवस्था अच्छी चलने लगी थी। प्रजा सुख का अनुभव करती थी। न्याय के लिए उद्विग्न या परेशान नहीं होना पड़ता था।

एक दिन अर्जुन ने सुभद्रा से कहा–''भैया कृष्ण का बुलावा आया है सुभद्रे! उत्तरा और परीक्षित का ध्यान रखना'' और खिन्न मुद्रा लिए वे चले गये।

एक अवधि बीत गई। अर्जुन, भाभी सत्यभामा के साथ आये। श्रीकृष्ण परमधाम चले गये। श्री बलराम ने मुक्ति पाई। द्वारिका को समुद्र लील गया। श्रीकृष्ण की भार्याओं ने देह-त्याग किया। सुभद्रा के दुख का पारावार नहीं था।

''भाभी यह सब क्या हो गया!'' सुभद्रा रो पड़ी। सत्यभामा ने कहा– ''बहन काल के बन्धन को स्वीकार करना पड़ता है। उद्विग्न चित्त को संयत करने का निश्चय कर लिया है। बालक ब्रज यदुवंश को आगे बढ़ाएगा। स्वामी श्रीकृष्ण का प्रपौत्र जो ठहरा! होनहार और सब प्रकार योग्य है, परीक्षित से उसकी अच्छी युति है।''

इतने में महाराज युधिष्ठिर आ गये। साथ में अर्जुन भी थे। महाराज ने कहा–''सुभद्रे! पौत्र परीक्षित को हस्तिनापुर का और श्रीकृष्ण के प्रपौत्र ब्रज को इन्द्रप्रस्थ का राजा बना हम पाँचों द्रौपदी सहित अपने किये कर्मों से निर्मित प्रारब्ध को काटने के लिए तपस्या हेतु हिमगिरि की ओर जा रहे हैं। तुम्हारे संरक्षण में परीक्षित और ब्रज हैं।''

सत्यभामा गंगातट पर तप करने और पाँचों पाण्डव द्रौपदी सहित हिमालय चले गये।

जब अर्जुन ने युधिष्ठिर के कथन का अनुमोदन किया तब सुभद्रा के सामने कोई विकल्प नहीं था। पौत्र परीक्षित और कृष्ण के प्रपौत्र ब्रज सुभद्रा के संरक्षण में बड़े होने लगे। राजकार्य में युयुत्सु व कृपाचार्य सहायता करते थे।

एक बार सायंकाल का समय था। आकाश से एक बड़ा तारा टूटकर गिरा, चारों ओर प्रकाश फैल गया और प्रकाश लुप्त हो गया। दूसरे दिन मध्याह्न में अनुचर ने समाचार दिया–

महारानी द्रौपदी, नकुल, सहदेव, महावीर अर्जुन और भीमसेन एक-एक करके हिमालय के हिमपात के शिकार हो गये।

वृद्ध सुभद्रा, जो भगवान् कृष्ण की भाँति एक योगी थी, ने सबके बीच रहते हुए शेष जीवन तप करके बिताया और एक दिन उत्तरा, परीक्षित, माद्रवती, जनमेजय देखते रहे–वो पंछी उड़ चुका था जिसने कुरुवंश का क्रम टूटने नहीं दिया।

उत्तरा

मत्स्यदेश भारतवर्ष के उत्तर मध्य में एक देश था। उस देश के महाराजा विराट एक उदार हृदय एवं धार्मिक शासक थे, उनके यहाँ पाण्डवों ने वनवास की अवधि का अन्तिम वर्ष अज्ञातवास के रूप में बिताने का निश्चय किया। महाराज विराट के एक पुत्र उत्तर और एक पुत्री उत्तरा थी।

उत्तरा अपने शैशवकाल से ललित-कला प्रेमी थी, लेकिन राजवंशीय मर्यादाओं के चलते वह बिना आचार्य के निपुणता प्राप्त नहीं कर सकती थी। छद्म वेश में पाण्डवों में अर्जुन ने जब नपुंसक बन वृहन्नला नाम से राजा विराट के दरबार में प्रवेश किया तो विराट को लगा कि यह नपुंसक कन्या उत्तरा को नृत्य सिखाने के लिए उपयुक्त आचार्य है। छद्मवेशी अर्जुन की नपुंसकता का राजा विराट ने कई सुन्दरियाँ भेजकर परीक्षण कराया, फिर कला आचार्य के रूप में कार्य सौंपा गया।

"समय कितना बलवान होता है" यह अर्जुन ने तब जाना कि वे वीरवर श्रेष्ठ धनुर्धरों में गिने जाते रहे। आज नपुंसक बन उन्हें अपना परीक्षण कराना पड़ रहा है।

उत्तरा किशोरी किन्तु एक अल्हड़ कन्या थी, उसने विधिवत वृहन्नला को गुरु रूप में वरण किया। अनेक मुद्राओं, वीर रस, श्रृंगार रस, सौम्य रस आदि का प्रदर्शन करने-कराने में वृहन्नला ने पूरी पटुता प्रदर्शित की। उत्तरा बड़ी लगन से सब-कुछ सीख रही थी।

नृत्य-कला के साथ-साथ संगीत-कला में प्रवीण वृहन्नला ने उत्तरा को गायन विद्या का शिक्षण भी दिया। चित्रकला में भी उत्तरा ने अल्प समय में निपुणता प्राप्त कर ली।

समय भागने लगा और ग्यारह मास कब बीत गये पता नहीं चला! 12वें मास के अन्तिम सप्ताह में राजा विराट को मत्स्य सैनिकों ने सूचना

दी कि पड़ोसी राज्य हस्तिनापुर के सैनिकों ने उनके द्वारा रक्षित गौओं का अपहरण कर लिया है। राजा विराट असमंजस में पड़ गये कि बलवान देश हस्तिनापुर के शासकों से कैसे टक्कर लें। वृहन्नला ने स्थिति भाँपी और उत्तरा से कहा' ''बेटी! भाई उत्तर से कहो कि वह सैनिक लेकर जावें, उनके रथ का सारथत्व मैं कर दूँगी।''

''अरे! वृहन्नला तुम और सारथत्व!'' और खिलखिलाकर हँस पड़ी।

वृहन्नला ने गंभीर होकर कहा–''यह समय न हँसने का है और न गँवाने का, तुम बस भैया उत्तर को तैयार कर दो।''

उत्तर पहले तो घबराया किन्तु जब वृहन्नला वेशी अर्जुन ने गंभीरतापूर्वक वीरोचित भाषा में कहा–''राजकुमार! घबराओ नहीं, अपनी सखी के शौर्य को भी परख लेना।''

''हाँ-हाँ भैया! जब यह कह रही है तो परखने में हर्ज ही क्या है!''

राजकुमार उत्तर के आग्रह पर राजा विराट ने भी आज्ञा दे दी! वृहन्नला ने समरभूमि में आ घबराये हुए किशोर उत्तर को ढाढ़स बँधाया। सारथत्व उसे सौंप वृक्ष में छिपाये हुए अपने शस्त्र और गाण्डीव धनुष निकाला। कौरव सेना से टक्कर लेने के लिए भिड़ गया। अब वह वृहन्नला नहीं धनुर्धारी अर्जुन था। कौरव सेना परास्त हुई और भाग खड़ी हुई। उत्तर और अर्जुन विराट नगर आये। स्वागत हुआ। उत्तर ने पिता राजा विराट के सम्मुख सारी पाण्डव कृति रखी। राजा ने द्रौपदी सहित पाँचों पाण्डव भाइयों का सम्मान किया। अपने मत्स्य राज्य के उपपलव्य नगर में उन्हें रहने का ठौर दिया।

उत्तरा आश्चर्यचकित थी कि वह वीरवर अर्जुन को पूरे वर्षभर पहचान नहीं सकी। ठगी-सी–लज्जित-सी एक किशोरी कर भी क्या सकती थी! राजा विराट ने अर्जुन के साथ उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव महारथी युधिष्ठिर के सम्मुख रखा, किन्तु अर्जुन ने यह कहकर कि ''मैं उत्तरा का गुरु रहा हूँ, मैंने नृत्य विद्या, गान विद्या सिखाई है, मैं उसका पिता जैसा हूँ और वह मेरी पुत्रीवत है, विवाह संभव नहीं।''

विवाह की चर्चा रनिवास में भी फैली, उत्तरा स्वयं वृहन्नला का सम्मान करती थी, उसने अपनी माँ से कहा, ''पिताश्री क्या करने जा

रहे हैं!''

''बेटी! राजघरानों के विवाह गहरी राजनीति लिए हुए होते हैं, इसे हम क्या जानें।''

''नहीं माँ, साफ मना कर दो कि उत्तरा को पार्थ से विवाह एकदम स्वीकार नहीं। वे मेरे पितातुल्य हैं।''

अर्जुन उत्तरा के प्रति अति स्नेह रखते थे, अपने शिक्षणकाल में वे उसे परख चुके थे। उन्होंने महाराज विराट के सन्मुख अपने सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, जो किशोर वय पार कर रहा था, के साथ उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव रखा।

उत्तरा का किशोर मन बल्लियों उछलने लगा, हालाँकि उसने अर्जुनपुत्र अभिमन्यु को देखा नहीं था किन्तु अर्जुन के पौरुषेय शिष्ट व्यवहार से वह प्रभावित थी।

चर्चा का दौर चला, महारानी ने महाराज विराट के सम्मुख अपनी शंका रखी–''राजन्! पहले तो यह कि अभिमन्यु इस सम्बन्ध को स्वीकार भी करेंगे और कर भी लिया तो कुरुवंश में स्त्रियों की कथा व्यथापूर्ण रही है।''

''अरे! भाग्यवान! अभिमन्यु बलराम और श्रीकृष्ण के भान्जे हैं, पूर्ण सुरक्षित हैं! जिसके श्रीकृष्ण संरक्षक हैं उसके विषय में आँख मूँदकर सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाय।''

और विवाह धूमधाम से सम्पादित हुआ। प्रथम दृष्टि में अभिमन्यु को उत्तरा और उत्तरा को अभिमन्यु भा गये। विवाह में द्वारिका से सुभद्रा, बलराम, श्रीकृष्ण आदि यदुवंशी अभिमन्यु को लेकर आये थे। पाण्डव वनवास की पूरी अवधि में अभिमन्यु श्रीकृष्ण के आचार्यत्व में अपने द्रौपदीपुत्र भाइयों के साथ शिक्षण-प्रशिक्षण कर युद्ध में प्रवीणता पा चुका था। वीर अभिमन्यु को पाकर उत्तरा ने अपने को धन्य माना।

काल की गति को कोई नहीं जानता। अन्ततः महाभारत का भीषण युद्ध पाण्डव और कौरव पक्षों के बीच आरंभ हो गया। कुरुक्षेत्र के मैदान में दिन में भीषण युद्ध चलता था और रात में अपने शिविरों में छल-बल की व्यूहरचना होती रहती थी। उत्तरा, जिसने कुरुवंश में हाल ही प्रवेश किया था, राजकन्या होने के बाद भी कुरुवंश की कुटिल नीति से अनभिज्ञ

थी। दादी माँ कुन्ती का आशीर्वाद पा उसे लगा था कि सारा सांसारिक सुख उसकी झोली में है।

युद्ध में पितामह भीष्म शरशैया पर सुला दिये गये थे। सेनापति क्षत्रिय वेशधारी ब्राह्मण आचार्य द्रोण ने सैन्य संचालन सँभाला। अपने प्रिय शिष्य अर्जुन से उनका युद्ध था। अर्जुन को संशप्तकों के बीच उलझा दिया गया। आचार्य द्रोण ने पाण्डव वीरों को फाँसने के लिए चक्रव्यूह की रचना की, जिसका भेदन और उससे निष्कासन केवल अर्जुन को ज्ञात था। युधिष्ठिर सहित तीनों भाई चिन्तित थे, भीम का पौरुष किसी काम का नहीं था।

ऐसे में युवा अभिमन्यु ने कहा–"भेद तो सकता हूँ निकलना नहीं आता।" भीम ने अति उत्साह में कहा, "तुम्हारे पीछे-पीछे हम सब पाण्डव वीर चलते हुए व्यूह को ध्वंस कर देंगे।"

अभिमन्यु ने कर्ण, दुःशासन, लक्ष्मण (दुर्योधनपुत्र), जयद्रथ आदि वीरों को पराजित कर चक्रव्यूह में प्रवेश पा लिया। पाण्डव वीरों को जयद्रथ ने व्यूह के प्रवेशद्वार पर ही बड़े कौशल के साथ रोक दिया। अभिमन्यु फँस चुका था, फिर भी अकेले ही छः महारथियों का सामना करने के लिए युद्धभूमि में युवा काल-सा भैरवनृत्य करने लगा। द्रोण, कर्ण, कृप, अश्वत्थामा, बृहद्बल और कृतवर्मा ने अभिमन्यु को घेरकर निःशस्त्र कर दिया, फिर दुःशासनपुत्र ने अभिमन्यु के सिर पर गदा मारकर गिरा दिया।

मृत्युपूर्व की अचेतन अवस्था में मन राजप्रासाद में उत्तरा के पास चला गया।

"उत्तरे! मैंने युद्धभूमि में पीठ नहीं दिखाई! एक वीर की भाँति मृत्यु का आलिंगन कर रहा हूँ। अपनी कोख में पलते पुत्र की रक्षा करने का दायित्व सौंप रहा हूँ। पता नहीं पिताश्री और मामा श्रीकृष्ण मेरी संसार को विदाई को किस रूप में लेंगे।" फिर माँ सुभद्रा से तन्द्रा में बोले–"माँ! मैंने तुम्हारे क्षत्राणी दूध की लाज रखी है। अन्तिम प्रणाम!" अभिमन्यु के प्राण-पखेरू उड़ चुके थे।

पाण्डव पक्ष में हाहाकार मच गया! वीरवर अर्जुन ने प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा कर डाली। उत्तरा और सुभद्रा ने जैसे ही अभिमन्यु की मृत्यु

के समाचार सुने दोनों उन्मत्त की भाँति पृथ्वी पर गिरकर अचेत हो गईं। अर्जुन साहस जुटा नहीं पाये, श्रीकृष्ण ने द्रौपदी से कहा–''दोनों के मुँह पर जल छिड़को!''

''कृष्णा, बहू को सँभालो, सुभद्रा को धीरज बँधाओ! अभिमन्यु को उत्तम गति प्राप्त हुई है। उसकी गौरवगाथा चिरस्मरणीय रहेगी।'' श्रीकृष्ण का यह वाक्य उत्तरा के हृदय को बेध गया। वह कुछ चेतन हो बोली, ''मामाश्री ! काहे की गौरवगाथा, मेरी तो रौरवगाथा हो गई'' और फूट-फूटकर रोने लगी।

अविचल श्रीकृष्ण एक बार तो उत्तरा के क्रन्दन से विचलित हो गये, फिर संयत भाव ले बोले–''ध्यानपूर्वक सुनो। मृत्यु अवश्यंभावी है। जो संसार में जन्मता है उसकी मृत्यु जन्मते ही निश्चित हो जाती है कि कौन, कब, कैसे, किसके द्वारा, कहाँ मृत्यु को प्राप्त होगा! संहार करने के लिए ही ब्रह्माजी ने मृत्यु का निर्माण किया, यदि वे ऐसा नहीं करते तो सृष्टि की गतिशीलता थम जाती। अभिमन्यु गया, उसका पुत्र आने वाला है। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है बहू!''

श्रीकृष्ण की इस भविष्यवाणी ने द्रौपदी, सुभद्रा और उत्तरा को एक ऐसा आश्वासन दिया जिसने दुख के घने बादल में एक उज्ज्वल विद्युत-रेखा खींच दी।

श्रीकृष्ण का यह आश्वासन, मात्र आश्वासन नहीं था। युद्ध की समाप्ति पर जब क्रूर अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग उत्तरा के गर्भ पर किया, सारे रनिवास में कोहराम मचा हुआ था, रोने-पीटने में किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था। दादी कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा तब विक्षुब्ध स्थिति में पहुँच गईं जब उत्तरा ने मृत पुत्र को जन्म दिया।

''लाओ, शिशु मुझे दो'' श्रीकृष्ण ने शिशु को गोद में लिया और बोले–''अरे बालक की तो साँसें चल रही हैं।'' पता नहीं श्रीकृष्ण के हाथों में क्या चमत्कार था! शिशु रो पड़ा और सबके रोते हुए चेहरों पर प्रसन्नता दौड़ गई।

उत्तरा ने नवजीवन पाया। उत्तरा के जीवन के उत्तरार्द्ध में यह वह क्षण था जिसने पूरे पाण्डव तथा कुरुवंश को नवचेतना दी। यह एक नये युग का आरंभ था।

दादी कुन्ती ने तप हेतु वन प्रस्थान किया। सुभद्रा को पौत्र मोह ने बाँधे रखा। कृष्ण और कृष्णा संसार से चले गये। उत्तरा को तो सब जाने वालों का उत्तर-कर्म कराने के लिए परीक्षित और ब्रज को संरक्षण देने के लिए आँसू पी-पीकर प्रतीक्षा करनी थी! दुख की प्रतीक्षा अवधि लम्बी अवश्य होती है किन्तु नियति इतनी कठोर भी नहीं कि तपते जीवन में ठण्डी हवा का झोंका न लाये। उत्तरा के जीवन में पुत्रवधू माद्रवती और पौत्र जनमेजय का आगमन हो गया।

माद्रवती

महाभीषण युद्ध समाप्त हुए आधी शताब्दी बीत चुकी थी, राजा परीक्षित ने सुचारु रूप से राज चलाते हुए 60 वसन्त ऋतुओं का आनंद उठा लिया था। आखेट की तत्कालीन प्रथा थी। आखेट करते हुए वन में भटक गये। वहाँ कुवृत्ति प्रतीक कुकृत्य करते हुए एक भीमकाय काले पुरुष से भेंट हुई। उस पुरुष ने अपने को कलियुग बताया और कहा–"राजन! द्वापर युग समाप्त हो चुका है, अब मेरा प्रभाव सर्वत्र होगा–इस प्रभाव से सच-झूठ का भेद समाप्त हो जायेगा। धर्म द्रव्य में समाहित हो जावेगा। दान दिखावटी होगा। दया जो धर्म का मूल है, क्वचित ही दिखाई देगी, इस प्रकार नाना प्रकार की सद्वृत्तियाँ विलोपित हो जावेंगी। इस प्रभाव से आप भी अछूते नहीं रहेंगे।"

राजा परीक्षित ने उस श्यामवर्णी पुरुष को मारना चाहा ताकि न रहे बाँस न बजे बाँसुरी–किन्तु राजा की तलवार चल नहीं सकी–राजा भी आश्चर्यचकित थे।

कलियुग बोला–"राजन्, मुझे मारने का प्रयास निरर्थक है, विधि के विधान अनुसार मुझे क्रियाशील होना ही है।" राजा परीक्षित ने स्वस्थ चित्त हो पूछा, "बचने का कोई उपाय अवश्य होगा।"

"सत्संग द्वारा बचते हुए हरिनाम का आधार लिया जाय तो अल्प जीवन अवधि सन्तोषपूर्वक बीत सकती है।"

चर्चा अधूरी छोड़ दोनों अपने मार्ग पर चले गये। राजा को अपनी राजधानी का पथ नहीं सूझा, उनका भटकाव जारी रहा! भटकते-भटकते गला सूखने लगा। दूर एक आश्रम दिखाई दिया। शमीक नामक ऋषि मौन तपस्या में लीन थे, राजा ने पानी माँगा, राजा ने कई बार पानी की माँग की–उत्तर न मिलने पर परीक्षित की राजसिक वृत्ति तामसिक में बदल गई–क्रोध हावी हो गया, बुद्धि अन्धी हो गई, अन्तर और बाहर

में विवेक ने विराम ले लिया और एक मरे हुए सर्प को ऋषि शमीक के कन्धे पर डाल अपनी राजधानी हस्तिनापुर चले आये।

थोड़ी देर बाद ऋषिपुत्र भृंगी आये। उन्होंने देखा, उनके भी क्रोध का पार नहीं रहा और उन्होंने "तक्षक सर्पदंश" का राजा को शाप दे डाला कि आगामी सात दिवस में सर्पदंश से परीक्षित की मृत्यु हो जावेगी।

वैसे किसी की मृत्यु सात दिनों में से किसी एक ही दिन होती है।

समाचार परीक्षित तक पहुँचा। राजमहल जिसे विश्वकर्मा ने विशेषतः कुरुवंश के लिए ही बनाया था, में सन्नाटा छा गया।

पटरानी माद्रवती के सामने वैधव्य नाच गया, काटो तो खून नहीं वाली स्थिति बन गई। पुत्रवधू बहुष्टमा जो अभी-अभी अपने पिता काशी नरेश के घर से आई थी, समझ नहीं पाई कि आखिर सौम्य, निश्चल पूतात्मा और निष्कलंक उसके श्वसुर की मृत्यु क्योंकर निश्चित हुई। नई-नई थी, पति जनमेजय से सकुचाते हुए आखिर पूछ ही लिया, "इसका सब प्रबंध कर लिया जावेगा ताकि अकाल मृत्यु का योग टल जाय।"

कुलगुरु कृपाचार्य ने परीक्षित और माद्रवती को युक्ति बताई कि–"बाल ब्रह्मचारी शुकदेवजी सत्संग करावें तो कुयोग टल सकता है।"

राजा परीक्षित ने आसक्ति त्याग माद्रवती से कहा–"शुभे! चलो सत्संग का पुण्य लाभ तो युग्म स्थिति में ही मिलता है।" मन में उथल-पुथल लिए पतिव्रता राजरानी रथ में बैठ गई–गंगा तट पर विशाल पण्डाल का निर्माण जनमेजय की देखरेख में हो चुका था, चप्पे-चप्पे पर सैनिक नियुक्त थे कि कोई कीट भी प्रवेश न कर पाये।

परीक्षित ने प्रायश्चित स्वरूप उपवास आरंभ कर दिया तो फिर माद्रवती कैसे पीछे रहती। हरिपूजन व सब देवों का पूजन कर महासत्संग आरंभ हुआ! दीर्घजीवी महात्मा ऋषि-मुनि जो अपने-अपने युग के श्रेष्ठ विद्वान थे, सत्संग में उपस्थित हुए। किशोर शुकदेव के सामने उनके पिता वेदव्यास (जिन्होंने वेदों का विभाजन किया, पुराणों की रचना की), महायोगी वशिष्ठ आये, विश्वामित्र आदि ऋषि बैठे हुए थे। राजा परीक्षित और रानी माद्रवती शुकदेवजी के एकदम सम्मुख थे।

राजा ने विरक्त भाव से प्रश्न किया–"भगवन्, जो पुरुष मरणासन्न हो उसको क्या करना चाहिए, मनुष्य मात्र को क्या करना चाहिए, वे

किसका जप, श्रवण, स्मरण और भजन करें तथा किसका त्याग करें?''

श्रीहरि का ध्यान, भजन तथा स्मरण के विभिन्न प्रकार उदाहरण से समझाने का प्रयास शुकदेवजी ने किया, नाना पुराणों के अंशों का उदाहरण समझाया—राजा का विरक्त भाव बढ़ता जा रहा था, संसार नश्वर लगने लगा। किन्तु रानी माद्रवती गहन चिन्तन में उलझती जा रही थी कि उसे अपनी सास परम विदुषी कलाप्रेमी उत्तरा की भाँति सारा जीवन विधवा होकर बिताना पड़ेगा, पुत्र जनमेजय सती होने नहीं देगा! सब छोड़ देना होगा, रागरंग तो दूर की बात सामाजिक कृत्यों, विवाह आदि में गौण हो पीछे की पंक्ति में या घर की दीवार, दरवाजे के पीछे छिप जाना होगा। उनका मन नहीं लग रहा था। वे सोच रही थीं कि ''काश आज योगेश्वर द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण होते तो जिन्होंने अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र बाण से रक्षा की थी वे अवश्य तक्षक के दंश से बचा लेते! वे सर्व समर्थ थे!''

क्या दादी सुभद्रा अपने पोते की अकाल मृत्यु देख पाती!

शुकदेवजी का प्रवचन चल रहा था। राजा ने सम्पूर्ण सृष्टि रचना सुनी, प्रलय सुना, रघुवंश, यदुवंश, कुरुवंश की रचना और विघटन सुना।

राजा एकाग्रचित्त थे लेकिन महारानी बेचैन थी, यह देख जनमेजय आये और पूछा—''माँ कुछ बेचैनी है! सब ठीक हो जायेगा, मैं हूँ न! सब देख लूँगा कि तक्षक कौन-सा पड़दादा अर्जुनकालीन बैर निकालने आता है!'' युग बीत गये, कृत्य करने वाले चले गये लेकिन वंशानुगत बैर की भावना नहीं गई। माद्रवती ने कहा, ''बेटा मैं जानती हूँ, मुझे भय तो यह है कि नागवंशी दीर्घजीवी होते हैं, उनमें बदला लेने की प्रवृत्ति रहती है, और यह अवसर मिल रहा है। वैसे होनहार को कौन टाल सकता है, अब तो श्रीकृष्ण के स्मरण का ही सहारा है।''

आगे बोली—''श्रीकृष्ण और तुम्हारे दादा ने अग्निदेव की इच्छानुसार खाण्डव वन दहन किया था, उसमें तक्षक का परिवार नष्ट हुआ था। युद्ध में तक्षक के पुत्र ने कर्ण के बाण बनकर अर्जुन को मारना चाहा, श्रीकृष्ण ने रथ नीचा करके उसका यह प्रयत्न विफल कर दिया था। खाण्डव वन दहन के समय तक्षक कुरुक्षेत्र गया हुआ था।''

प्रवचन पूरे सात दिन चला महाभागवत एक पुराण बन गया। राजा

तो भागवतीय हो चुके थे। छद्म वेश में तक्षक ब्राह्मण बनकर आया–पण्डाल में चौकसी होने के बाद भी कपट से प्रवेश कर गया! योग पद्धति से परीक्षित ने अपनी आत्मा को शरीर से निकाल लिया–पार्थिव शरीर शेष था, जिस पर तक्षक ने होनी बताने के लिए दंश किया!

पूरे पण्डाल मे हाहाकार मच गया, तक्षक कैसे आया? कहाँ चला गया? कोई नहीं जान सका! वस्तुतः मृत्यु कैसे आती है, कहाँ चली जाती है आज तक कोई नहीं जान सका।

जनमेजय अत्यन्त विक्षुब्ध थे–रानी माद्रवती अर्धमूर्च्छित अवस्था में थी, माता उत्तरा और पुत्रवधू बहुष्टमा बार-बार ढाढ़स बँधा रही थीं।

''मद्रा, मेरी ओर देख'', उत्तरा की करुण आवाज थी, ''विधि के विधान के सामने किसकी चली है। अब समय तो काटना पड़ेगा–''

बहुष्टमा ने अत्यन्त वेदना भरे शब्दों में कहा, ''माँ! हमारे राजा तो परमधाम उन्हीं के पास गये हैं, जिन्होंने उन्हें वचन दिया था।'' माद्रवती मूक थी, न रो रही थी और न उत्तर दे रही थी! सत्संग की पूर्णाहुति न हो पाई, बीच में यजमान हमेशा के लिए संसार से चले गये। फिर जनमेजय ने उत्तर-कर्म किया। स्वस्थ चित्त हो राजा होने के नाते शिक्षा देने का निश्चय किया ताकि आगे कोई दुष्कर्म कर समाज में बदले की बैर भावना से किसी का प्राणान्त न करे।

राज्य निर्णय कठोर होता है। उत्तरा, माद्रवती और बहुष्टमा से विचार-विमर्श हुआ। जनमेजय ने नागयज्ञ का प्रस्ताव रखा ! सारे नाग समुदाय को लपेट में लेना–माद्रवती को यह प्रस्ताव ठीक नहीं लगा किन्तु जनमेजय तक्षक को शिक्षा देने के लिए दृढ़ थे। अपने अनुचरों, अधिकारियों, मंत्रिगणों को आयोजन करने का आदेश प्रसारित कर चुके थे। इस भयंकर यज्ञ का समाचार चारों ओर दावानल की भाँति फैल गया। छल करने के बाद बेचैनी स्वाभाविक होती है, तक्षक अपनी क्षमता को भूल इन्द्र की शरण गया, काम नहीं बना। अन्ततः वंशरक्षक नागराज वासुकि ने सहायता करने का प्रयास आरंभ किया! वासुकि की बहन जरत्कारु के पुत्र आस्तीक को तैयार किया कि वे राजा जनमेजय से आग्रह कर नागवंश को बचावें।

"बैर से बैर मिटता नहीं"–आस्तीक मित्र भाव से यज्ञस्थल पर पहुँचे जहाँ हिंसा अपने नग्न स्वरूप में थी, बाल, युवा व वृद्ध सर्प बलि चढ़ रहे थे। दृश्य बड़ा वीभत्स था। उधर राजप्रासाद में माद्रवती अनमनी-सी बैठी यज्ञ-मण्डप से उठते विषाक्त धुएँ को देख रही थी, मन में अनेक विचार आ रहे थे कि योगीश्वर कृष्ण की भगिनी सुभद्रा के अंश को क्या हो गया कि वह प्रेम की भाषा सुनना ही भूल गया–क्रोध वास्तव में पागल बना देता है। क्या मेरा योग्य पुत्र जनमेजय पागल हो गया है। परिचारिका ने सूचना दी कि वरिष्ठ राजमाता उत्तरा हिमालय तप करने चली गई हैं, उनसे यह हिंसक लीला देखना संभव नहीं था, वैसे ही भयंकर मृत्यु ताण्डव वे देख चुकी थीं। मोहवशात वे महारानी गान्धारी, बड़ी सास कुन्ती व सास सुभद्रा के साथ जा नहीं सकी थीं–परीक्षित का राजकरण करते देख वे कुछ-कुछ भूलने लगी थीं कि परीक्षित की इहलीला समाप्ति ने उन्हें तोड़कर रख दिया...यदि नाग-कुरु संघर्ष में वही सब-कुछ हुआ तो...!

उत्तरा के जाने के बाद माद्रवती क्या करे ? कौन मार्गदर्शन करायेगा, वेदव्यास भी अज्ञात स्थान पर जा चुके थे। शुकदेवजी का सप्त दिवसीय सत्संग संबल था, उसी पर विचार केन्द्रित करने का प्रयास करने लगी।

व्यक्ति अकेला आता है, अकेला जाता है, सब सम्बन्ध-नाते यहीं रह जाते हैं, यमदण्ड किसी को नहीं छोड़ता, जाने के कारण बन जाते हैं। महाराजा की मृत्यु का कारण तक्षक बना! उसका कृत्य क्षमा योग्य होता यदि उसने छल नहीं किया होता और कतिपय ब्राह्मण को, जो संजीवनी विद्या जानते थे, धन देकर बीच मार्ग में से भगा नहीं दिया होता तो...लोभ बड़ा बुरा होता है और यदि ब्राह्मण, जिससे अपरिग्रह की अपेक्षा की जाती है, लोभी हो जाय तो भयंकर विनाश का कारण बन जाता है।

विचार-क्रम चल रहा था कि परिचारिका ने सूचना दी कि जरत्कारु ऋषिपुत्र कुमार आस्तीक ने जनमेजय के हिंसक यज्ञ को यज्ञ-स्तुति करके रुकवाने में सफलता पाई है।

राजमाता माद्रवती ने सन्तोष की साँस ली। उनके मुख से अनायास

निकल पड़ा–"दैव प्रबल होता है, मैत्री ही से मिटे बैर।"

राजा परीक्षित के उत्तर-कर्म को करने की क्रिया में जनमेजय लग गये–पतितपावनी गंगा के तट पर विनाश-यज्ञ के स्थान पर सृजन-यज्ञ आरंभ हुआ। महारानी बहुष्टमा के साथ महाराज जनमेजय ने यजमान का आसन ग्रहण किया! अब महर्षि वेदव्यास के सुयोग्य शिष्य वैशम्पायनजी आचार्य ने इतिहास, पुराण, कुरुवंश का विस्तार व विनाश सुनाना आरंभ किया।

राजमाता माद्रवती का ध्यान सत्संगीय काया से कहीं दूर था कि एक समय वे अपने योगी पति के साथ यहाँ बैठी थीं। तब भी ध्यान भय के कठोर नियम की ओर था, हरि-ओम-हरि की क्रिया पर जमता ही नहीं था, विचलित मन को बार-बार रोककर लगाने के प्रयास व्यर्थ जाते थे और आज भी जा रहे हैं, जबकि सृजन में कोई अनहोनी नहीं होनी थी।

सत्संग के उपरान्त महाराज जनमेजय ने अपने दिग्विजयी होने की घोषणा कर अश्वमेध यज्ञ के अश्व को छोड़ दिया था–छोटे-छोटे राजा शेष थे, बड़े महासमर में परस्पर लड़ कट मरे थे, दिग्विजय कोई दुष्कर नहीं रह गया था! बिना प्रतिकार किये राजा जनमेजय चक्रवर्ती राजा स्वीकार कर लिए गये।

परीक्षित की परमधाम यात्रा को एक मास बीतने आया, वहीं गंगा तट पर कलकल करती गंगा बहती हुई सन्देश दे रही थी कि मनुष्य आता है और मनुष्य जाता है लेकिन जीवन चलता रहता है। राजमाता माद्रवती ने पवित्र गंगा में स्नान किया, ब्रह्मलीन पति के लिए तर्पण किया–उन्होंने आभासित किया कि राजा परीक्षित स्वयं तर्पण स्वीकार करने उपस्थित हुए हों और कह रहे हो–"संसार छोड़ो–मोह छोड़ो..."

और मोह छूट गया–ध्यानस्थ हो गई राजमाता माद्रवती की नश्वर देह गंगा तट पर बैठी की बैठी रह गई, आत्मा परमतत्व में लीन हो गई। सम्पूर्ण राज-समाज कह बैठा–एक और महान योगी का महाप्रयाण हो गया।

जरत्कारु

यायावर वंश के लोग वन में रहते थे किन्तु एक स्थान पर टिकते नहीं थे। इस वंश में जरत्कारु नाम के एक प्रसिद्ध ऋषि हो गये, उन्होंने दारुण तप करके अपने देह का क्षय कर लिया था। क्षीणकाय जरत्कारु फिर भी सुन्दर दिखते थे, कोई भी बाला उन पर मोहित हो सकती थी। जब ऋषि अपनी साधना से निवृत्त हुए उन्हें प्रेरणा हुई कि विवाह के बिना जीवन अधूरा है और यायावर वंश चलने वाला नहीं। वे वन में भटक रहे थे कि उनकी दृष्टि एक युवती पर गिरी, जो वन में जंगली बेर, गोंद, तेंदू आदि बटोर रही थी। उन्होंने युवती के पास जाकर पूछा–"बाले! तुम कौन हो और अकेली निर्भय हो वन में फिर रही हो? तुम्हें देख मुझे लगा कि तुम्हारा परिचय प्राप्त कर लूँ।"

"महात्मन् मैं नागवंशीय वासुकि की बहन हूँ, अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं को इकट्ठा करना मेरा काम है। हमें किसी का भय नहीं...! हाँ, नागरिकों से अवश्य भय लगता है, उनका और हमारा पीढ़ियों का बैर चला आ रहा है।"

"वह कैसे?" जरत्कारु ने आश्चर्य से पूछा।

"उन्होंने हमारे वनों को नष्ट करके अपनी बस्तियाँ बसाने का मानो एक प्रकार से बीड़ा उठा रखा हो!"

"तो फिर मुझसे भी भय लगता होगा!"

"नहीं जी! तुम ऋषि-मुनि तो हमारे साथी-संगाती हो, तप करते हो, साधन करते हो। साधन करते-करते तुम लोगों की वृत्ति प्रेममयी हो जाती है, तुम सबमें श्रीहरि के दर्शन करते हो...।"

जरत्कारु को लगा कि बाला विद्वान, ज्ञानी लगती है!

वो जाने लगी कि वासुकि आ गया और बोला, "ऋषिवर आप कौन हैं?"

"मैं यायावर वंश का ब्रह्मचारी हूँ..."

"फिर तो आपका विवाह नहीं हुआ।"

"हाँ!" परिचय प्राप्त कर और सुन्दर काया और शिष्टतापूर्ण वाणी सुन प्रभावित हुआ—"तो क्या आप मेरी बहन को स्वीकार करेंगे!"

"भैया मैं भी गृहस्थी बसाना चाहता हूँ, किन्तु मेरी दो शर्तें हैं। एक—लड़की मेरी नाम राशि की हो और दूसरे—मेरी अवज्ञा न करे। अवज्ञा करने पर उसे त्यागकर चला जाऊँगा।"

वासुकि ने कहा, "पहली शर्त तो पूरी हो रही है। मेरी बहन का नाम भी जरत्कारु है और रहा दूसरी का, तो जरत्कारु एक संस्कारी लड़की है। वह पतिव्रता रहेगी। उससे अवज्ञा होने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। क्यों जरु?" जरत्कारु ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया।

"अब विवाह तो हो जावेगा किन्तु अपने सगे-सम्बन्धियों से मिला लिया जाय।"

नागों की बस्ती में ऋषि जरत्कारु ने प्रवेश किया। पहले डर लगा और उन्होंने सोचा जब इनकी बहन साथ है तो भय कैसा? नागों की बस्ती में नाग और नागिनें स्वच्छन्द रूप से फिर रहे थे, पूरी बस्ती जंगल के फूल-पत्तों से सजी हुई थी, घरों की दीवारों पर विचित्र-विचित्र चित्रावली अंकित थी। जरत्कारु ने सब नागवंशियों का अभिवादन किया। एकत्रित नागों को नाग वासुकि ने सारी कथा कह सुनाई, विवाह की अनुमति वह दे ही चुका था।

ऋषि जरत्कारु और नागिन जरत्कारु का विवाह नाग संस्कृति की पद्धति से सम्पन्न हुआ। ऋषि अपनी पत्नी के साथ वन में चले आये। खुशी-खुशी दिन बीते, महीने बीते और कई वर्ष बीत गये।

एक दिन ऋषि यज्ञ करके निवृत्त हुए थे कि जरत्कारु ने कहा—"महात्मन्, आप अनुचित न समझें तो एक प्रार्थना है..." कुछ लजाते हुए कहा—"मेरी कामना है कि आपसे मुझे एक पुत्र आशीर्वाद स्वरूप मिले..."

"अरे भामिनी! कालचक्र तो घूमने दो—सब-कुछ अनुकूल होगा किन्तु पुत्र की जल्दी क्या है?"

"महात्मन्, वह दो वंशों को जोड़ने वाला होगा—नागरों और नागों की शत्रुता का अन्त हो जावेगा, शत्रुतावशात् हिंसा-प्रतिहिंसा चलती चली

आ रही है...''

''शत्रुता चली आ रही है! क्या मतलब और क्यों ?''

''हाँ ऋषिवर! आपको तो विदित ही होगा कि श्रेष्ठ नागर अर्जुन ने श्रीकृष्ण की सहायता से हमारी पूरी खाण्डव बस्ती को अपना नगर बसाने के लिए जला दिया था, उस महाविनाशक अग्नि में हमारे घर-बार, हमारे आश्रय, वनों की वनस्पतियाँ, अमूल्य वृक्ष आदि तो नष्ट हुए ही और कई परिवार काल के गाल में समा गये थे!'' वह बोलती चली गई, ''हमारे वंश के नागराज अश्वसेन की माता उस भीषण अग्नि में मारी गई थी, उसका प्रतिशोध लेने महाभारत के युद्ध में अश्वसेन ने महावीर कर्ण का आश्रय ले अर्जुन को मारना चाहा। किन्तु अश्वसेन मारे गये। कुछ काल बाद अर्जुन ने हमारे वंश की उलूपी से विवाह कर प्रयास किया कि नागर और नागों की शत्रुता मिट जाय। किन्तु, महात्मन्! मुझे दुख है कि शत्रुता का मिटना पीढ़ियाँ बीत जाने के बाद भी शेष है...''

ऋषि जरत्कारु ने कहा–''भद्रे! मैं जानता हूँ शत्रुता को मित्रता में बदलने के लिए धैर्य और तप चाहिए।''

शीतल मन्द पवन चलने लगी, गंगा की कलकल ध्वनि से नीरवता भंग हो रही थी। जरत्कारु और ऋषि की साधना चल रही थी। दोनों ध्यानमग्न हो समाधिस्थ हो जाया करते थे।

एक दिन दिवस का अवसान समीप था, गगन लोहित हो चला था। ऋषि जरत्कारु की गोदी में सिर रखे सो रहे थे।

जरत्कारु ने संध्या जान ऋषि को जगा दिया। ऋषि को अवसर मिल गया, वे गृहस्थी से ऊब गये थे, एकदम उठ खड़े हुए और क्रोध में भरे विवेक खो बोले–''अरी मूर्ख नागिन! तूने मुझे सोते जगा दिया, तू जानती नहीं कि मैं उस निद्रा में दैवी आनंद में लीन था! तूने मेरा आनंद भंग किया है, अवज्ञा की है...'' और जाने लगे।

जरत्कारु ने कहा–''महात्मन्! क्षमा करें। आप बड़े हैं, साधक हैं, तपसी हैं! मैं ठहरी निरी गँवार...और हमारे विवाह का उद्देश्य तो अधूरा ही है! यह वचनभंगता है?'' वह रोने लगी।

ऋषि जरत्कारु बोले–''तेरे गर्भ में तेजस्वी बालक पल रहा है। वह उद्देश्य की पूर्ति अवश्य करेगा। यह मेरी अन्तर्दृष्टि कह रही है।''

और यायावर ऋषि जरत्कारु को रोती छोड़ चले गये। पुनः वही परिव्राजक का जीवन!

जरत्कारु को उसके सम्पन्न भाई वासुकि का सहारा था। वह वन छोड़ नागों की बस्ती में आ गई। कुछ समय बीतने पर सुन्दर बालक ने जरत्कारु की गोद को हरा कर दिया। वह पुत्रमोह में कुछ काल के लिए पति विछोह को भूल-सी गई।

बालक का नाम आस्तीक रखा गया। मामा के यहाँ खेलकूदकर बड़ा हुआ। ऋषि-मुनि के बालकों के साथ भी खेला करता था। ऋषि-मुनियों के आश्रमों, आर्य संस्कृति के संस्कारों से वह बचपन में ही सम्पन्न होने लगा, उसमें नाग और आर्य संस्कृति का अद्‌भुत समन्वय था! बालक ग्यारह वर्ष का हो गया।

समय भागता है। हस्तिनापुर के तत्कालीन राजा परीक्षित को नागवंशी तक्षक नामक नाग ने पीढ़ियों के बैर पालते हुए मार डाला था। राजा परीक्षित की पत्नी रानी माद्रवती, जिन्हें महाराज प्रेम से इरावती कहते थे, ने वैधव्य स्वीकार तो कर लिया था लेकिन 'तक्षक ने विष-भंजक ब्राह्मण को परीक्षित के ज्ञान-यज्ञ में आने से बहुत सारा द्रव्य दे रोक दिया था' विचारकर एक टीस-सी हृदय में खिंच जाया करती थी। जनमेजय जो चारों भाइयों में ज्येष्ठ थे, स्वयं प्रतिशोध लेने में न केवल विश्वास करते थे अपितु ऋत्विजों से परामर्श कर प्रयत्न करने लगे और इसी निमित्त उन्होंने नागवंश को नष्ट करने के लिए यज्ञ रूप में विशेष अभियान आरंभ कर दिया।

राजा जनमेजय चक्रवर्ती सम्राट बन चुके थे। कोई छोटा-मोटा राज्य उनका विरोध करने का सामर्थ्य नहीं रखता था। इस विशाल प्रतिशोधात्मक आयोजन का समाचार जैसे ही नागों की बस्ती में पहुँचा, खलबली मच गई। एक विचित्र-सी भययुक्त बेचैनी और चिन्ता व्याप गई। पितृवंश के विनाश से जरत्कारु चिन्तित रहने लगी। ज्ञानी आस्तीक ने अपनी माता को चिन्तित देख पूछा, "माँ! आपको किस बात की चिन्ता हो रही है?"

जरत्कारु ने कहा–"बेटा, महाराज जनमेजय प्रतिशोध की वेदना से पीड़ित हो तुम्हारे मामा के वंश को नष्ट करने के लिए महायज्ञ का

आयोजन कर रहे हैं, यही मेरी चिन्ता का विषय है।''

''महायज्ञ रोका नहीं जा सकता...''

''रोका जा सकता है। किन्तु मित्र भाव चाहिए। जिसका छोटा से छोटा अंश भी दिखाई नहीं देता।''

''क्या माता उत्तरा और माता माद्रवती ने इस विनाशक यज्ञ की अनुमति दे दी! वे भूल गईं कि अश्वत्थामा के प्रतिशोध को श्रीकृष्ण ने विफल कर दिया था। काश, आज श्रीकृष्ण होते!''

''बेटा! महारानी माद्रवती तक पहुँचना हम वनवासियों के लिए अति कठिन है। हमारी जाति आड़े आती है।''

''लेकिन आप तो कहती हैं कि मैं ब्राह्मणवंशी हूँ और सब वर्णों में पूज्य हूँ, आप भी विवाहोपरान्त ब्राह्मण हो गईं!''

''बेटा, यह भेदात्मक व्यवस्था ही नासमझी का कारण है। हम खुलकर बातें भी नहीं कर पाते।''

''मैं प्रयास करता हूँ।'' माँ-बेटा चर्चा कर ही रहे थे कि वासुकि आ गये। घबराये हुए थे, आते ही बोले–''जरत्कारु! आस्तीक! जल्दी करो बेटा, शीघ्र हस्तिनापुर जाओ। राजा ने यज्ञ आरंभ करवा दिया है और कई नाग काल-कवलित हो गये हैं, अब हमें कौन बचाये! श्रीहरि ही रक्षा करें।''

''मामाजी! आप धैर्य रखें, मैं अभी जाता हूँ।'' जरत्कारु बोली, ''ठहरो, मैं भी चलती हूँ, शायद ऋत्विजों में तुम्हारे पिता के दर्शन हो जायें!''

''क्या माँ ऋषि-मुनि भी इस विनाशक यज्ञ में होंगे!''

''बेटा ज्ञानी ही विपरीत सोच ले तो विनाश का सूत्रधार बन जाता है।''

बात करते-करते माँ-बेटा यज्ञस्थल पर पहुँचे। वहाँ अजीब-सी दुर्गंध आ रही थी। यज्ञशाला के साथ रानियों और ऋषि-पत्नियों के शिविर लगे हुए थे।

शिविर के निकट आने पर आस्तीक से कहा–''तुम यज्ञशाला में जाओ, मैं राजमाता माद्रवती से मिलकर आती हूँ। मित्रता के लिए कोई प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए–प्रतिशोध का अन्त मैत्री में ही है।''

राजमाता ने ऋषिपत्नी जरत्कारु का स्वागत किया।

"भद्रे! कैसे पधारना हुआ!"

"राजमाताजी! सीधी बात करूँ। महाराज जनमेजय के यज्ञ में मेरे वंश का विनाश हो रहा है। क्या यह विद्वेष दूर नहीं किया जा सकता? माता उलूपी भी तो हमारे वहाँ की ही थीं।"

"अरी जरत्कारु! युद्ध ने द्वेष और शत्रुता के बीज बोये थे, युद्ध करने वाले तो चले गये, घृणा व प्रतिशोध शेष रह गया। पुत्र महाराज जनमेजय अत्यन्त क्रोध में हैं। उनके क्रोध को शान्त करने का कोई उपाय फिलहाल दिखाई नहीं देता।"

"प्रयत्न तो करना होगा, शान्ति का आनंद कुछ और ही होता है माता! आस्तीक गया है, देखें क्या होता है!"

यज्ञशाला के द्वार पर आस्तीक को रोक दिया गया, आस्तीक ने द्वार पर से ही यज्ञ की स्तुति करना आरंभ कर दिया, विद्वतापूर्ण सस्वर स्तुति सुन महाराज जनमेजय ने पूछा–"कौन बालक है?"

"ब्राह्मण ब्रह्मचारी है महाराज!" द्वारपाल ने कहा। आस्तीक को सम्मानपूर्वक यज्ञशाला में लाया गया।

ब्रह्मचारी आस्तीक ने आते ही यज्ञ की स्तुति की, उस स्तुति में लोक-कल्याण की उच्चतम भावना निहित थी। स्तुति उपरान्त उन्होंने ऋत्विजों, सभासदों, ऋषि-मुनियों और महाराज जनमेजय से कहा, "महाराज, यज्ञ कल्याण के लिए होता है, शान्ति, प्रेम के लिए होता है, मित्रता के लिए होता है, और आप लोग हिंसा करके क्या प्राप्त कर लेंगे? प्रतिशोध, घृणा और पीढ़ियों तक की बैर भावना!"

"ब्राह्मण! हमें मत रोकिये। तक्षक के यज्ञकुण्ड में गिरते ही हम यज्ञ बन्द कर देंगे!" महाराज जनमेजय ने विनम्रतापूर्वक कहा।

"राजन्! आपको स्मरण करा दूँ कि तक्षक अमृतपान कर चुके हैं, उनके न मरने पर अन्य नागों का होम ही होगा! और क्या धर्मराज युधिष्ठिर की परम्परा पर पानी फेर रहे हैं, आप सब परम धुरन्धर विद्वान हैं, दक्ष हैं, शान्ति प्रेम का अर्थ समझते हैं। पूर्वकाल में यज्ञों का विधान देवों की प्रसन्नता के लिए रचित रहा है। उनके प्रसन्न होने पर प्रजा सुखी होती है। राजन्! आप प्रसन्न हों, मैं आपसे उचित वर की याचना करता हूँ!"

याज्ञिक ब्राह्मणों ने कहा—"राजन्! आपका कार्य ठीक से हो रहा है—ब्राह्मणकुमार को वर दे दीजिये।"

आस्तीक से जनमेजय ने कहा—"ब्राह्मणकुमार! तुम्हारे जैसे सत्पात्र को उचित वर देना चाहता हूँ, जो इच्छा हो प्रसन्नतापूर्वक माँग लो।"

आस्तीक बोला—"राजन्! बस यह विध्वंसक यज्ञ बन्द करने की आज्ञा दीजिये।"

यज्ञ बन्द किया गया। तक्षक बच गया। उसने उपस्थित हो क्षमा माँगी।

आस्तीक ने सबसे पहले माँ जरत्कारु को जाकर समाचार सुनाया— "माँ! मामा वंश की रक्षा यज्ञ भगवान् ने की।"

"बेटा ऋषि-मुनियों में पिताश्री को देखा क्या?"

"माँ मैं पहचानता कैसे! मैंने उन्हें कभी देखा नहीं!"

माँ-बेटे बात कर ही रहे थे कि महात्माओं का समूह सामने से निकला। माँ-बेटे ने प्रणाम किया। उस समूह में एक जर्जर अवस्था को प्राप्त काया वाले महात्मा दिखाई दिये।

"बेटा! देखो तो सही, वे दूर जो कृशकाय महात्मा जा रहे हैं, वे ही तुम्हारे पिताश्री हैं।" जरत्कारु ने संकेत से बताया, जरत्कारु ने दूर से ही प्रणाम किया। आस्तीक ऋषि जरत्कारु के पास गया, साष्टांग प्रणाम किया।

ऋषि बोले, "चिरायु हो! वत्स परिचय दो!"

"ऋषिवर मैं जरत्कारुपुत्र आस्तीक हूँ।"

"कौन पुत्र और कौन पिता! पिता तो एक परमात्मा और पुत्र सारा जगत्।" और आस्तीक की ओर बिना देखे आगे बढ़ गये। जरत्कारु दूर से बस निहारती रही!

राजमाता ने आ राजप्रासाद चलने का आग्रह किया, जरत्कारु इतना ही बोली, "दो शत्रुओं को मित्र बनाना मेरा लक्ष्य था, पूरा हुआ। फिर कभी आऊँगी। भाई वासुकि को शुभ समाचार देना है।"

माँ-बेटे नाग-बस्ती में आ गये थे।
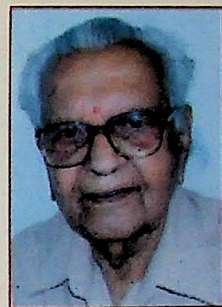
डॉ. वल्लभदास मेहता

जन्म– 27 दिसम्बर, 1929

सेवा- निवृत्त आचार्य अर्थशास्त्र।

शिक्षा– बम्बई विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. (1956)।

1956-91 तक अध्यापन।

सम्प्रति– स्वतंत्र लेखन।

प्रकाशन– हिन्दी तथा इंग्लिश में अर्थशास्त्र, धर्म, संस्कृति से संबंधित लगभग 40 ग्रंथ जिनमें कर्मयोगी, अध्यात्म क्या?, ब्रह्मयात्रा और कर्मपथ आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं।

गांधीवादी के रूप में प्रसिद्ध तथा विश्वविद्यालय में अनेक शैक्षणिक संस्थाओं में मानद प्रोफेसर।

1947 में गांधीजी, स्वामी नारायणदेव तीर्थ महाराज तथा स्वामी श्री विष्णुतीर्थजी के सम्पर्क में आने के बाद आध्यात्मिक साधक के रूप में सक्रिय, 1974 में शक्तिपात परंपरा में स्वामी श्री शिवोमूतीर्थजी से दीक्षित।

पता– 74, रेवारा टाउनशिप,
(माता मन्दिर चौराहा)
टी.टी. नगर, भोपाल-462003

महाभारत की श्रेष्ठ नारियाँ